

## विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान संस्कृत जगत् को स्वामी विश्वेश्वरानन्द तथा स्वामी नित्यानन्द की एक ऐसी अनुपम देन है जो संस्कृत भाषा के साथ संसार में अमर रहेगी । आज की शताब्दी में भारत सहित विश्व के सभी विद्वान् इस संस्थान से प्रकाशित होने वाले वैदिक पदानुक्रम कोष जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थों के प्रकाशन के कारण इसका बड़े आदर के साथ नाम लेते हैं, और इस संस्थान को वैदिक साहित्य के प्रचार और प्रसार का एक मुख्य केन्द्र मानते हैं। वैदिककोष निर्माण के मुख्य स्तम्भ विश्वविख्यात इस संस्थान की रूपरेखा जिस प्रकार तैयार की गई थी, तनिक इस पर दृष्टिपात किया जाये तो पता चलेगा कि यह एक ईश्वरीय देन ही है। कभी-कभी ईश्वर की ओर से जब कोई विचित्र कार्य होना होता है तब उसके लिए घटना भी कुछ विचित्र सी होती है। इस संस्थान के मूल में भी ऐसी ही एक लम्बी कहानी है। ईश्वर को एक अभूतपूर्व कार्य कराना था। इसीलिए उसने एक ऐसे महात्मा को दूसरे ऐसे महात्मा से मिलाया जो अपना सर्वस्व आर्य समाज को समर्पित कर चुके थे। जेठ का महीना था, भयंकर गर्मियों के दिन। ऐसे समय में न जाने कहां से, किधर से, क्यों और कैसे, दो सन्त जो स्वभाव से शान्त, आकार से संभ्रान्त, एक ब्रह्मचारी तथा दूसरे सन्यासी, दोनों ही आर्य संस्कृति की दशा को देखकर कुछ मन से क्लान्त थे । अचानक दिल्ली जाने वाली गाड़ी के एक ही डिब्बे में बैठ गए । इनमें एक का नाम स्वामी विश्वेश्वरानन्द और दूसरे का नाम था ब्रह्मचारी नित्यानन्द । घटना इस प्रकार घटी कि एक बार स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी किसी समारोह में सम्मिलित होने मथुरा गए । समारोह की समाप्ति पर जब वे मथुरा से दिल्ली जा रहे थे तो लौटते हुए गाजियाबाद स्टेशन पर उनकी ब्रह्मचारी नित्यानन्द जी से जीवन में पहली बार भेंट हुई । स्वामी नित्यानन्द जी भी गाजियाबाद से दिल्ली ही जा रहे थे। संयोग कहिये या नियति का विधान, स्वामी नित्यानन्द जी अचानक उसी डिब्बे में चढ़ गए जिस डिब्बे में स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी बैठे थे । यह दो सन्तों का प्रथम मिलन था। उनका यह मिलन जीवन पर्यन्त बना रहा। कभी भी उन्होंने एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ा । जिस प्रकार इनके नाम से पहले चाहे वर्ण भिन्न थे, पर अन्त में दोनों के 'आनन्द' शब्द जुड़ा था । इसी प्रकार बचपन से दो विचारधाराओं से जुड़े हुए होने पर भी अन्त में किसी एक ऐसे कार्य को करने के इच्छुक थे, जिससे अपना ही नहीं अपितु संसार का कल्याण हो, बुद्धिजीवियों को प्रसन्नता हो और भारत के ऋषियों की अमूल्य सम्पत्ति वेद विद्या, गंगा की धारा के समान अविच्छिन्न रूप से बहती तथा सुरक्षित रहे । दोनों में वार्तालाप हुआ, एक दूसरे ने अपनी अपनी भावना के अनुसार विचार व्यक्त किए। चर्चा का विषय बना हिन्दू समाज। विचार की दृष्टि से दोनों में भिन्नता होने के कारण किसी विषय पर कोई एक निर्णय न हो सका । गाड़ी चलती जा रही थी, एक के बाद दूसरा स्टेशन आता छूट जाता, पर दोनों सन्त लोक कल्याण की चर्चा में ऐसे लीन थे कि इन स्टेशनों के छूटने तथा अन्य स्टेशनों के आने का उनको न कोई भान था न लाभ । जब काफी समय बीत गया और चर्चा का कोई ठोस परिणाम नहीं निकला तब चर्चा का विषय समाज कल्याण की ओर मुड़ गया और अन्त में बात आकर टिक गई वेद विद्या पर । वेद वेदाङ्ग विषय की चर्चा में दोनों ही इतने लीन हो गए कि दोनों को दिल्ली आने का पता ही नहीं चला। दिल्ली पहुंच कर दोनों एक ही जगह ठहरे । कुछ समय बाद ही मेरठ में आर्य समाज का वार्षिक उत्सव था । स्वामी नित्यानन्द जी के लिए वार्षिक उत्सव का विशेष रूप से निमन्त्रण आया तथा लेने के लिए विशेष व्यक्ति भी । दोनों ही महात्मा मेरठ चले गए । उस उत्सव में पंजाब केसरी लाला लाजपत राय जी आये हुए थे । परस्पर वार्तालाप हुआ । लाला लाजपत राय ने भी दोनों से संस्कृति एवं संस्कृत के प्रचार और प्रसार के कार्य करने की प्रार्थना की । वहां स्वामी नित्यानन्द जी के भाषण हुए। जनता ने स्वामी जी के प्रवचनों को इतना पसन्द किया कि उनको वहां करीब तीन सप्ताह और ठहरना पड़ा । बीच में स्वामी विश्वेश्वरानन्द

जी किसी कार्य से अमृतसर गए, पुनः स्वामी नित्यानन्द जी के पास मेरठ ही आ गए । कुछ दिन मेरठ रह कर दोनों ही दिल्ली लौट गए । अब दोनों साथ साथ ही आर्य समाज का प्रचार करने के लिए जाते और अनेकानेक विषयों, शास्त्रों तथा लोक कल्याणकारी योजनाओं पर चर्चा करते । दोनों विद्वान् थे, सन्त थे । वैदिक मार्ग के अनुयायी तथा आर्य सस्कृति के प्रेमी थे । दोनों महात्मा परस्पर संस्कृत में ही बातचीत करते, दोनों ही वेद विद्या के विकास, प्रसार प्रचार के लिए किसी ऐसे ग्रन्थ का निर्माण करना चाहते थे, जिससे वेद के अर्थ को समझने में सहायता मिल सके । वे यह अच्छी प्रकार समझते थे कि कालान्तर में ऐसे बहुत कम पण्डित होंगे जो बिना किसी कोष की सहायता के वेद मन्त्रों के अर्थ को सरलता से समझ सकें । उस समय स्वामी दयानन्द जी का साधारण जनता पर ही नहीं अपितु विद्वानों पर भी पूर्ण प्रभाव था । स्वामी जी के प्रभाव से प्रभावित होकर वे स्वामी दयानन्द जी की शैली के आधार पर चारों वेदों का एक ऐसे कोष का निर्माण करना चाहते थे, जिसमें वैदिक व्याकरण के अनुसार प्रत्येक पद का अलग अलग अर्थ दिया जाये, तथा उसके मूल धातु, प्रत्यय आदि का भी स्पष्टीकरण किया जाये और उस समय तक प्राप्त सभी भाष्यकारों या अन्य विद्वानों के द्वारा किए गए अर्थों को भी दिया जाय । पर इस कोष का निर्माण तभी सम्भव था, जब पहले उन उन पदों को अकारादि क्रम से एकत्रित किया जाये । इसलिए पदानुक्रमणिकाएं तैयार करने का निश्चय किया गया ।

### शान्त कुटी शिमला में संस्थान की स्थापना –

कोष निर्माण का विचार करने के बाद उनके सामने इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिए धन की समस्या थी । इस समस्या के समाधान के लिए उन्होंने ऐसे व्यक्तियों से सम्पर्क करने का निश्चय किया जो धनिक होते हुए भी वेद विद्या के प्रति निष्ठा रखते हों तथा वेद के प्रचार और प्रसार में आस्था रखते हों । देखा गया कि यदि साधारण मनुष्य भी किसी शुद्ध भावना से प्रेरित होकर कोई कार्य करना चाहता है, तो उसके लिए भी साधन स्वतः ही जुट जाते हैं, फिर ऐसे ब्रह्मनिष्ठ तपस्वी ब्रह्मचारियों का तो कहना ही क्या । ऐसा ही स्वामी नित्यानन्द जी के साथ भी हुआ । सन् 1903 में स्वामी जी गर्मी के प्रारम्भ में भ्रमण करते हुए अकेले ही कुल्लू घाटी पहुंच गए । स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी शिमला में थे । इसी बीच बड़ौदा के महाराजा गायकवाड़ का विचार गर्मियों में कश्मीर जाने का बन गया । महाराजा ने दोनों स्वामियों को भी कश्मीर आने का न्यौता दिया । स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी रावलपिण्डी में ही उनको मिल गए और वहीं से ही उनके साथ कश्मीर के लिए चल पड़े । स्वामी नित्यानन्द जी को भी उन्होंने सन्देशा भेजकर अपने पास ही बुला लिया । स्वामी नित्यानन्द जी वहां पहुंच गए । दोनों ही स्वामियों ने महाराजा के समक्ष वैदिक कोष निर्माण की योजना रखी । स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी तो वापिस शिमला चले गए पर स्वामी नित्यानन्द जी महाराजा के साथ श्रीनगर ही चले गए । जब महाराजा श्रीनगर पहुंचे तो उन्होंने श्रीनगर के पण्डितों की एक गोष्ठी बुलाई, जिसमें अनेक विषयों पर चर्चा हुई । इसी बीच वैदिक कोष के विषय में भी विचार विमर्श हुआ । बाद में जब स्वामी जी शिमला चले गए तब महाराजा ने अपने निजि सचिव द्वारा स्वामी से पत्र द्वारा वैदिक कोष सम्बन्धी जानकारी के लिए एक पत्र लिखवाया ।

धन तो मिल गया पर जिन वेदों का प्रादुर्भाव ऋषियों के हृदय में जिस शान्त तथा पवित्र वातावरण में हुआ था उससे सम्बन्धित साहित्य के निर्माण तथा वैदिक शब्दों के उन गूढ़ अर्थों को समझने के लिए भी उसी प्रकार के शान्त वातावरण की आवश्यकता थी । दोनों ही सन्त शान्त तथा एकान्त स्थान को ढूँढने निकले और उनकी भावना के अनुसार ही शिमला में पटियाला और क्योथल के महाराजाओं ने उनको भूमि प्रदान कर दी । भूमि मिलने पर उन्होंने वहाँ नवम्बर 1903 में शान्तकुटी नामक स्थान में **‘वैदिक शोध संस्थान’** नाम से आज के इस **‘विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान’** की सर्वप्रथम स्थापना की । वेद विद्या के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए वेद विद्या से सम्बन्धित सभी वैदिक ग्रन्थों का एक विशाल वैदिक

कोष बनाया जाए इसी सन्दर्भ में उन्होंने सर्वप्रथम चारों वेदों की पदसूचियाँ बनाने का कार्य प्रारम्भ किया । इस योजना के फलस्वरूप वेदों की चार मुख्य संहिताओं की पदानुक्रमणियाँ तैयार कर दी गईं और उसका प्रकाशन 1910 में किया गया । अभी पदसूची बनाने का कार्य चल ही रहा था कि इस कार्य के प्रेरणादायक, स्तम्भ-स्वरूप स्वामी नित्यानन्द जी 8 जनवरी, 1914 को देह त्याग गए । स्वामी जी के स्वर्ग सिंघारने के कारण स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी अपने को इतना बड़ा कार्य संभालने में असमर्थ समझने लगे, वे 64 वर्ष के हो चुके थे । उन्होंने शिमला से जाने का मन बना लिया । उनको भान हो गया था कि यह इतना महान् कार्य है कि इसके लिए पर्याप्त धन तथा किसी कर्मठ विद्वान् की आवश्यकता है । वे किसी युवा विद्वान् के कन्धों पर इस महान् कार्य का भार रखना चाहते थे । उन्होंने पहले कुछ कार्य विद्वानों से कराया भी पर वे उस कार्य से सन्तुष्ट नहीं थे । स्वामी जी पहले महाराजा होल्कर के कहने पर इन्दौर गए, वहां भी काम नहीं बना । इसी बीच रा.ब. मूलराज जी सेवामुक्त होकर अपने पुत्र डा. केदारनाथ जी के पास शिमला गए हुए थे, वहां उनका सम्पर्क स्वामी जी से हुआ । स्वामी जी ने अपनी समस्या उनके सामने रखी । रा.ब. साहब ने उन्हें लाहौर आने को कहा । लाहौर उस समय विद्या का केन्द्र था । स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी लाहौर गए और रा.ब. मूलराज जी से मिले । रायबहादुर मूलराज जी उस समय आर्यसमाज के सर्वप्रथम प्रधान थे । उन्होंने स्वामी जी को महात्मा हंसराज जी से मिलने का परामर्श दिया और स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी उनके परामर्श के अनुसार स्वनामधन्य महात्मा हंसराज जी से मिले, उनके समक्ष अपनी कठिनाई तथा भविष्य के कार्य की रूपरेखा रखी । महात्मा जी को तत्कालीन मेधावी विद्वानों का भली-भाँति पता था । उन्होंने स्वामी जी को विश्वबन्धु जी का नाम सुझाया । स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी ने जब अपना मन्तव्य आचार्य विश्वबन्धु जी के समक्ष रखा तो उन्होंने उनकी आज्ञा शिरोधार्य करते हुए कोष बनाने के काम को स्वीकार कर लिया । इस प्रकार 1924 से कोष निर्माण का काम आचार्य विश्वबन्धु जी को सौंप दिया गया । उस समय आचार्य विश्वबन्धु जी डी.ए.वी. कालेज सोसाइटी द्वारा चलाए जा रहे दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय में आचार्य पद पर काम कर रहे थे । स्वामी जी द्वारा कोष का कार्य सौंपे जाने पर आचार्य जी 1924 से कोष का कार्य भी करने लग गए । संस्थान का यह कार्य 1 जून, 1934 तक दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय में ही चलता रहा । उसके बाद आचार्य विश्वबन्धु जी ने महाविद्यालय का काम छोड़ दिया और डी.ए.वी. कालेज के अनुसन्धान विभाग को सम्भाल लिया । डी.ए.वी. कालेज में यह अनुसन्धान विभाग 1917 से चल रहा था । अब ये दोनों कार्य आचार्य विश्वबन्धु जी के सुपुर्द कर दिए गए । आचार्य विश्वबन्धु जी को वैदिक कोष निर्माण का कार्य सौंप कर स्वामी जी एक प्रकार से निश्चिन्त हो गए और उन्हें मान लिया कि अब यह कार्य ऐसे वैदिक विद्वान् के हाथ में पहुंच गया जिसके हाथों में जाने से अब इसकी सम्पन्नता होने में तनिक भी सन्देह नहीं । उन्हें ऐसे ही आत्मानन्द की अनुभूति हुई, जैसे किसी योगी को सविकल्पक समाधि में पहुंच कर आत्म तत्त्व की झलक देख कर अद्वितीयानन्द की प्राप्ति हो जाती है । फलतः स्वामी जी केवल दो मास अस्वस्थ रहे और 23 नवम्बर, 1925 स्वर्ग सिंघार गए । स्वामी जी यद्यपि अपने रहते रहते ही वैदिक कोष निर्माण के लिए पर्याप्त धन भी एकत्रित करके रखना चाहते थे, पर वे अपने जीते जी ऐसा न कर सके । केवल मात्र अपनी मृत्यु से कुछ मास पूर्व वे डेढ़ लाख रुपया ही एकत्रित कर सके और उस रुपये की वसीयत कोष निर्माण के लिए कर गए । मृत्यु से पूर्व ही वे धन सम्बन्धी कार्य के लिए एक 'विश्वेश्वरानन्द सम्पत् प्रबन्धिनी सभा' की भी वसीयत में घोषणा कर गए थे । उसमें जिन व्यक्तियों को मनोनीत करके रखा हुआ था वे इस प्रकार थे:-

1. सर्वश्री रायबहादुर लाला रला राम (अध्यक्ष),
2. पं.मदनमोहन मालवीय,
3. महात्मा सत्यनारायण स्वामी,
4. स्वामी सर्वदानन्द,
5. सर जयलाल,

6. सेठ रणछोड़दास भवान,
7. डा. कल्याण दास जे. देसाई,
8. आचार्य विश्वबन्धु,
9. डा. केदारनाथ

यह सभा 1935 तक संस्थान के सभी प्रकार के प्रशासनीय तथा वित्तीय कार्य करती रही ।

धीरे धीरे संस्थान का आकार तथा कार्य बढ़ता गया । उस पर होने वाले व्यय का बढ़ना भी स्वाभाविक था, जिससे यह अनुभव किया गया कि अब इतने धन से संस्थान चलने वाला नहीं, अतः संस्था को अपने आय के साधन बढ़ाने के लिए सभा को इस प्रकार से बनाया जाय, जिससे यह संस्था राजकीय सहायता लेने योग्य या समाज से विधिपूर्वक धन एकत्रित करने योग्य बन जाय । इसी बात को ध्यान में रखते हुए इस सभा का नाम 'विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान सभा' कर दिया गया। यह एक विधिपूर्वक बनी हुई संस्था थी। इसलिए 1860 के अधिनियम 21 के अनुसार 9 मई, 1935 को इसको उक्त नाम से रजिस्टर्ड कर दिया गया और 1 जुलाई, 1936 से संस्थान का कार्य इस नयी संस्था को सौंप दिया गया। इस सभा के मनोनीत सात सदस्य इस प्रकार थे :-

1. सर्वश्री रायबहादुर लाला मूलराज,
2. पण्डित मदनमोहन मालवीय,
3. महात्मा नारायण स्वामी,
4. रायबहादुर लाला रलाराम,
5. रायबहादुर लाला दुर्गादास,
6. आचार्य विश्वबन्धु,
7. डा. केदारनाथ

संस्थान का पंजीकरण होने के बाद संस्थान का कार्य प्रगति की ओर चल पड़ा । मान्यता मिलने के कारण 1940-41 से नियमित रूप से संस्थान को अनुदान भी प्राप्त होने लगा। कई प्रान्तीय सरकारों, राजे महाराजाओं तथा अनेक विश्वविद्यालयों ने भी सहायता देनी प्रारम्भ कर दी। वैदिक पदानुक्रम कोष की छपाई के काम में कठिनाई प्रतीत होने लगी थी इसलिए अपने प्रकाशन के लिए संस्थान ने अपना ही प्रैस खोल दिया। स्वामी जी महाराज से वैदिक पदानुक्रम कोष का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लेने के बाद अन्य कार्यो के साथ साथ आचार्य जी ने इसी पर अधिक ध्यान देना प्रारम्भ किया और 1935 में ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों से सम्बन्धित पदानुक्रम कोष का एक भाग प्रकाशित कर दिया ।

1936 में ब्राह्मण भाग की दूसरी जिल्द भी प्रकाशित कर दी गई। इसके बाद आचार्य जी ने संहिता भाग पर कार्य करना प्रारम्भ किया और 1942 तक संहिता भाग का भी प्रथम भाग संस्थान द्वारा प्रकाशित कर दिया गया। इसी बीच संस्थान से वाल्मीकि रामायण (उत्तर पश्चिमी भाग) का सम्पादन कर प्रकाशन भी पांच खण्डों में किया गया ।

### संस्थान की साधु आश्रम में पुनः स्थापना:-

संस्थान निरन्तर वृद्धि की ओर अग्रसर हो ही रहा था कि 1946 में नियति का प्रकोप कुछ इस प्रकार से हुआ कि जिसकी संभावना भी नहीं की जा सकती थी । दैवदुर्विपाक से एक ओर विदेशी अपनी कुटनीति की चाल चल रहे थे, तो दूसरी तरफ जनता में घुसे हुए देशद्रोही साम्प्रदायिकता का नग्न नृत्य करते हुए शान्तिमय जीवन को तो नष्ट कर रहे थे सभी पाकिस्तान छोड़ भागने लगे ।

ऐसे समय में आचार्य विश्वबन्धु जी ने भी अपने सभी साथियों को भारत भेज दिया और स्वयं अपने कुछ अनुयाइयों के साथ प्रलय के समान उस विनाशकारी जनसंहार की लीला को देखते हुए भी हिमालय के समान दृढ़भाव से विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित तथा अप्रकाशित सामग्री तथा लालचन्द लाइब्रेरी में विद्यमान सैकड़ों वर्ष पुराने हस्तलिखित ग्रन्थों की रक्षा में डटे रहे । देखते ही देखते भारत भूमि नाम द्वारा दो भागों में बट गई, एक भाग का नाम भारत तथा दूसरे भाग का नाम पाकिस्तान हो गया ।

इस प्रकार भारत और पाकिस्तान का विभाजन होने एवम् लाहौर जैसे शिक्षा केन्द्र के पाकिस्तान में चले जाने से वहां जो बड़े बड़े शिक्षा संस्थान थे उनको अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा । उन्हीं संस्थाओं में विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान भी एक था । संस्थान के सामने सबसे बड़ी समस्या थी उस में सुरक्षित हजारों भोजपत्र तथा ताड़पत्रों पर लिखित अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थों एवं हजारों अप्राप्य संदर्भ ग्रन्थों तथा वैदिक पदानुक्रम कोष के जो भाग छप चुके थे तथा जो तैयार की गई अप्रकाशित सामग्री थी उसको किसी न किसी प्रकार बचाकर भारत भेजना । यह वह सामग्री थी जो अपने में एक संस्था थी, क्योंकि यही तो विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान की प्राण भूत सामग्री थी, इसके बिना संस्थान निष्प्राण मृत व्यक्ति के समान ही था । यह एक ऐसी समस्या थी जिसका समाधान करना नितान्त आवश्यक था । पर किया क्या जा सकता था । आचार्य विश्वबन्धु जी के लिए उस समय एक ओर जिन्दगी और मौत और दूसरी ओर इस अमूल्य निधि के बचाव और विनाश का प्रश्न ।

हालात इतने बिगड़ गए कि अगस्त आते आते लाहौर ही नहीं समूचा भारत तथा पाकिस्तान महान् संकट में फंस गया । 15 अगस्त को संस्थान भी पूर्णरूप से बन्द कर दिया गया ।

आचार्य विश्वबन्धु जी भी अपने सहयोगियों के साथ ऐसी कठिन परिस्थिति में कई मास तक शरणार्थियों की सेवा में लगे रहे । वहीं बैठ कर आचार्य जी संस्थान की अमूल्य सामग्री को एकत्रित करते रहे । सामग्री इतनी अधिक थी कि उसको बांधने के लिए न टाट थे, न सूतलियां । बाजार सामान लेने जाने का मतलब था, फिर लौटकर न आना । किसी न किसी प्रकार सामान को बांधा गया, जो कि लगभग 4,000 मन था, सामान बांधा तो गया अब उसको भारत पहुंचाने की बात थी ।

आचार्य जी ने निश्चय किया कि डी.ए.वी. कालेज तथा संस्थान के आवश्यक सामान, कागज, पत्र, हस्तलिखित ग्रन्थों, पुस्तकालयों को ले जाने का प्रबन्ध किया जाय । पाकिस्तान सरकार से जब इस विषय में सुविधा देने की प्रार्थना की गई तो उसने उल्टा सामान को भारत ले जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया । पर आचार्य जी ने अपनी बुद्धि वैभव से सभी बोरों को भारत पहुंचा दिया । जब सारी की सारी सामग्री लाहौर से भारत भिजवा दी तब आचार्य जी अपने सहयोगियों के साथ भारत आ गये ।

आचार्य जी भारत तो पहुंच गए पर अब उनके सामने समस्या थी, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान को पुनः स्थापित करने की और संस्थान की स्थापना के लिए भूमि प्राप्ति की । अब उनको उचित स्थान ढूंढने की चिन्ता हुई । ऐसे समय पर कालिदास की यह पंक्ति कि 'न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्' रत्न किसी को ढूंढता नहीं अपितु रत्न ढूंढा जाता है । आचार्य जी के अपार वैदुष्य तथा उनके कार्य नैपुण्य से दूर दूर तक बड़े बड़े विद्वान् उनसे परिचित थे । जब वे लाहौर से आए तो विद्वानों एवं संस्कृत प्रेमियों और आचार्य जी के मित्रों ने उनको ढूंढना प्रारम्भ किया, जब उनको आचार्य जी का पता चला तो उनके कई एक मित्रों ने उनसे अपने अपने यहां संस्थान को स्थापित करने का आग्रह किया, उन्हीं में से संस्कृत तथा संस्कृति के प्रति अपार निष्ठावान् श्री के.एम. मुन्शी जैसे मूर्धन्य गणमान्य विद्वान् भी थे । श्रीमुन्शी जी ने बड़े विनम्र भाव से आचार्य जी से भारतीय विद्या भवन बम्बई जैसे सुप्रसिद्ध स्थान में संस्थान को पुनः स्थापित करने का आग्रह किया पर आचार्य जी के मन में कुछ और ही था । वे वेद विद्या से सम्बन्धित शोध कार्य

को पंजाब की धरती से अन्यत्र नहीं ले जाना चाहते थे, इस का तात्पर्य यह नहीं कि पंजाब से अतिरिक्त दूसरे स्थानों से उनका प्रेम नहीं था, ऐसा कदापि नहीं। वेद और भारत की धरती से अपार स्नेह करने वाले आचार्य जी यद्यपि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसी भावना से ओतःप्रोतः थे, पर उनकी धारणा थी, कि ऋषियों ने पंजाब की धरती में ही तपस्या की है, इसी धरती पर रहते हुए ऋषियों को वेद का ज्ञान हुआ। वेद की जन्मभूमि पंजाब है, अतः इसकी श्रीवृद्धि भी पंजाब की धरती पर होनी चाहिए। उन्होंने नम्रतापूर्वक श्रीमुन्शी जी को अपने मन्तव्य से अवगत करा दिया कि मैं यहीं पंजाब में किसी शान्त वातावरण वाले स्थान में बैठकर ही वेद विद्या का अनुसन्धान करना चाहता हूँ।

आचार्य जी द्वारा संचालित इस संस्थान की ख्याति तब तक दूर दूर तक फैल चुकी थी। यही कारण था कि भारत सरकार ने भी आचार्य जी को पांच एकड़ भूमि तथा उस पर अनुसन्धान के योग्य भवन बनाने के लिए धन देकर दिल्ली में जहां आजकल हंसराज कालेज है वहां पर संस्थान को पुनः स्थापित करने के लिए कहा, आचार्य जी भूमि देखने गए उनको कोलाहलमय वातावरण वाला वह स्थान पसन्द नहीं आया और वे पंजाब में ही किसी शान्त वातावरणमय स्थान को ढूँढने लग गए।

आचार्य विश्वबन्धु जी के चिरपरिचित श्रीधनीराम भल्ला जी थे। श्रीधनीराम भल्ला जी बजवाड़ा (होशियारपुर) के रहने वाले थे। लाहौर में अपना व्यापार करते थे। आचार्य जी का उनके साथ अच्छा परिचय था। आचार्य जी पर उनकी अपार श्रद्धा थी। श्रीभल्ला जी ने अपने पैतृक गांव बजवाड़ा के समीप ही अपने पूज्य पिता जी की स्मृति में बाबू जी की बगीची नामक यह स्थान बनाया हुआ था, जो साधु आश्रम के नाम से जाना जाता था, उनको जब ज्ञात हुआ कि आचार्य जी संस्थान को पुनः स्थापित करने के लिए जगह की तलाश में हैं, आपने बड़े विनम्र भाव से इस स्थान में आचार्य जी से अनुसन्धान का कार्य चलाने की प्रार्थना की और साधु आश्रम की भूमि आचार्य जी को समर्पित करने की इच्छा व्यक्त की। आचार्य जी को शहर से दूर शिवालिक पहाड़ियों की तलहटी में हरे-भरे खेतों के बीच, शान्त वातावरण में विद्यमान, यह स्थान इतना पसन्द आया कि उन्होंने भल्ला जी की प्रार्थना को ही स्वीकार नहीं किया, अपितु उनके प्रति आभार भी जताया और 2 नवम्बर, 1947 से यहां वर्तमान साधु आश्रम में पुनः सुचारु रूप से वैदिक पदानुक्रम कोष तथा उससे सम्बन्धित कार्य प्रारम्भ कर दिया।

स्व. श्री भल्ला जी द्वारा साधु आश्रम शोध कार्य के लिए श्रीआचार्य जी को सौंपने के बाद संस्थान का कार्य पुनः प्रारम्भ कर दिया गया। लाहौर से जो ग्रन्थों एवम् वैदिक पदानुक्रम कोष के छपे हुए फर्मे तथा तैयार सामग्री के 4 हजार बोरे भेजे गए थे, उन्हें वहां से लाने वाले उनको पंजाब में इधर उधर डाल गए थे। जनता ने यह देखकर कि इसमें पुस्तकें हैं उनको भली प्रकार सम्भाल कर रखा और इन्तजार करते रहे कि इनको लेने वाला आयेगा। आचार्य जी ने साधु आश्रम में पहुंच कर सर्वप्रथम उस सामग्री को ढुंढवाना प्रारम्भ किया। सितम्बर का महीना संस्थान के लिए बड़ा शुभ रहा, क्योंकि 13 सितम्बर, 1947 को उन बोरों में से 30 बोरे साधु आश्रम में पहुंच गए। इन बोरों के मिलने पर आचार्य जी को आशा बंधी कि जो सामान लाहौर से भेजा गया है वह इधर उधर गांवों या शहरों में सुरक्षित है। 2 नवम्बर, 1947 सोमवार को साधु आश्रम में कार्यालय खुलवा दिया गया। आचार्य जी जब लाहौर से चले थे, तो आपने वहीं से अपने पुराने कर्मचारियों को साधु आश्रम में इकट्ठा होने के लिए सन्देश भेज दिया था। सन्देश पाकर कुछ प्राचीन कर्मिष्ठ साधु आश्रम में पहुंच गए। लाहौर से भिजवाया हुआ सामान भी धीरे धीरे ढूँढ कर इकट्ठा किया गया और 1948 के मध्य तक सारा का सारा सामान साधु आश्रम में पहुंच गया।

लाहौर में यद्यपि प्रैस इत्यादि या अन्य सामान को छोड़ना पड़ा पर यहां पुनः कार्य धीरे धीरे आगे बढ़ता गया। आचार्य जी ने क्योंकि स्वामी नित्यानन्द जी का इस संस्थान को बनाने में मुख्य हाथ था

इसलिए उनकी स्मृति में स्वामी नित्यानन्द वैदिक कोष विभाग के नाम से एक विशिष्ट विभाग की संस्थान में स्थापना की। यद्यपि अन्य भी विभाग खोले गए पर केन्द्र बिन्दु कोष विभाग ही रहा। अन्य विभाग इसी विभाग के चारों ओर विकसित होते हुए इसी की श्रीवृद्धि करते रहे।

संस्थान के पुनः स्थापित करने में धन की दृष्टि से समस्या पैदा हो सकती थी, पर उस समस्या को हल करने में माननीय गोपीचन्द्र भार्गव तथा महाराजा पटियाला जैसे उदार तथा संस्कृत के प्रति रुचि रखने वाले दानी महानुभावों का सहयोग मिल गया। 1947 से 1949 तक संस्थान को पुनः खड़े करने में कठिनाईयां तो आईं पर सभी के सहयोग से वह धीरे धीरे समाप्त हो गईं।

1949 के अन्त तक इस संस्थान की नींव कुछ स्थिर हुई। आचार्य विश्वबन्धु जी की भावना तथा स्वर्गीय दोनों महात्माओं का अपने जीवन का त्याग विफल नहीं हुआ। संस्थान पुनः उन्नति की ओर अग्रसर हुआ। इसी वर्ष संस्थान ने पुनः अपना मुद्रणालय स्थापित कर दिया; क्योंकि जहां संस्थान के लिए अनुसन्धान का कार्य मुख्य था, वहीं उस कार्य को प्रकाशित करने के लिए प्रैस की भी उतनी ही आवश्यकता थी।

इसी बीच साधु आश्रम की सम्पत्ति के मालिक श्री धनीराम भल्ला जो साधु आश्रम की सम्पत्ति विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान सभा के नाम करना चाहते थे स्वर्ग सिंघार गए। समस्या उत्पन्न हुई कि क्या अब संस्थान की स्थापना के लिए किसी नये स्थान को देखना पड़ेगा। क्या लगे लगाए इस संस्थान तथा प्रैस इत्यादि को कहीं अन्य ले जाना पड़ेगा। ऐसा कुछ नहीं हुआ स्वर्गीय धनीराम जी की धर्मपरायणा पत्नी तथा उनके पितृ भक्त पुत्रों ने आचार्य जी से निवेदन किया कि हमारे पूज्य स्वर्गीय धनीराम भल्ला जी की हार्दिक इच्छा थी कि यह संस्थान इसी स्थान पर चले और उन्होंने साधु आश्रम की भूमि भी सभा के नाम करके उसका एक ट्रस्ट बना दिया।

उस समय का साधु आश्रम अब एक विशाल संस्थान का रूप धारण कर चुका है। यहां छात्रों के लिए आधुनिक रूप से बने दो छात्रावास; बाहर से आने वाले शोध कर्ताओं के लिए विशेष कमरे; अभ्यागतों के लिए अतिथि भवन। केन्द्रीय कक्ष (जहां वैदिक कोष पर कार्य करने वाले विद्वान् बैठते हैं) तथा महासुभाषित कक्ष। प्रशासन विभाग। संस्थान के प्रांगण में आधुनिक रूप से निर्मित एक विशाल पुस्तकालय भवन, कर्मचारियों के निवासार्थ मकान, शिक्षण विभाग के कमरे, प्रैस विभाग, बैंक, डाकखाना, कैण्टीन इत्यादि सभी कुछ है।

धीरे धीरे संस्थान के काम के कारण इसका नाम भी बढ़ता गया; जिसके कारण 1957 में पंजाब विश्वविद्यालय ने दक्षिण भारत की लिपि में लिखित हस्तलिखित ग्रन्थों का देवनागरी में लिपि में प्रतिलेखन तथा उनके शोध के लिए संस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थ प्रतिलेखन एवं शोध विभाग स्थापित किया।

## शिक्षण —

यह संस्थान उन संस्थानों में से एक है, जहां अनुसन्धान की अपनी एक पृथक् शैली है। आचार्य विश्वबन्धु जी ने उसी को ध्यान में रखते हुए सोचा कि क्यों न संस्थान में हो रहे अनुसन्धान के अनुरूप छात्रों को यहीं शिक्षित किया जाय। इसी उद्देश्य से शोध विभागों के साथ साथ शिक्षण विभाग को खोलने को मन बनाया, जिससे संस्थान को भारतीय विद्याओं के अध्ययन का केन्द्र भी बनाया जाय। इसी दिशा में 1959 से संस्थान में स्नातकोत्तर शिक्षण विभाग भी खोल दिया गया। जिसमें एम.ए. (संस्कृत) तथा शास्त्री, आचार्य, हिन्दी प्रभाकर इत्यादि श्रेणियों को पढ़ाने का प्रबन्ध किया गया।

## पुस्तकालय –

संस्थान की सबसे बड़ी सम्पत्ति है उसका पुस्तकालय । यह पुस्तकालय संस्थान के प्रांगण में विद्यमान पंजाब विश्वविद्यालय की देखरेख में अपने किस्म का एक पुस्तकालय है। इसमें दक्षिण भारत की लिपि में लिखित संस्कृत के अनेकों हस्तलिखित ग्रन्थ तथा अन्य प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ संग्रहीत हैं । इसके साथ ही इसमें सैकड़ों दुर्लभ संदर्भ ग्रन्थ विद्यमान हैं । इस आधार पर यह पश्चिमोत्तर भारत में भारत भरती विद्या का सबसे विशाल संदर्भ पुस्तकालय है । भारत के विभिन्न प्रान्तों से; विदेशों से, विद्वान्, प्राध्यापक तथा शोधकर्ता समय समय पर आकर यहां बैठकर अपना शोधकार्य करते हैं । इसमें लगभग 250 पत्र पत्रिकाएँ नियमित रूप से आती हैं ।

## प्रकाशन –

यह संस्थान अब तक वैदिक साहित्य से सम्बन्धित लगभग 1000 (एक हजार के करीब) ग्रन्थों का लेखन, सम्पादन तथा प्रकाशन कर चुका है । संस्थान से प्रकाशित पद्मभूषण आचार्य विश्वबन्धु जी द्वारा सम्पादित वैदिक पदानकम कोष विश्व साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है । यह 16 खण्डों में विभक्त 11000 पृष्ठों में प्रकाशित है । यह उस वैदिक कोष का पूर्वरूप है जिसके निर्माण के लिए स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी तथा स्वामी नित्यानन्द जी ने शान्त कुटी शिमला में संस्थान का शुभारम्भ किया तथा आचार्य विश्वबन्धु जी ने जिसको साकार मूर्तरूप दिया। वैदिक कोष निर्माण का कार्य संस्थान के प्रांगण में ही पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा निरन्तर चल रहा है । प्रकाशित होने पर तो वेदों का यह एक अभूतपूर्व कोष होगा । इसके साथ ही पोलैण्ड निवासी संस्कृत के महान् पण्डित डा. स्टर्नबाख् द्वारा संकलित महासुभाषित संग्रह का सम्पादन तथा अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशन संस्थान द्वारा किया जा रहा है।

## पत्रिकाएं –

संस्थान से नियमित रूप से हिन्दी के प्रचार तथा प्रसार एवं साधारण पाठकों के लिए हिन्दी मासिक विश्वज्योति का 1952 से प्रकाशन पद्मभूषण आचार्य विश्वबन्धु के सम्पादक प्रारम्भ किया गया वह अपने 50 वर्ष वर्ष 2002 में पूर्ण कर अपनी स्वर्ण जयन्ती मना चुकी है। संस्कृत के प्रचार तथा प्रसार एवम् संस्कृत विद्वानों के उत्कृष्ट लेख, काव्य, नाटक, मुक्तक इत्यादि के प्रकाशनार्थ त्रैमासिक विश्वसंस्कृतम् का भी प्रकाशन संस्थान ने 1963 से आचार्य विश्वबन्धु जी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ किया गया। अंग्रेजी भाषा में भी 2002 से वी.वी.आर.आई. रिसर्च बुलेटिन प्रारम्भ किया गया है ।

## पंजाब विश्वविद्यालय से पंजीकरण –

पद्मभूषण आचार्य विश्वबन्धु के संचालकत्व में संस्थान की अनुसन्धान के विषय में निरन्तर वृद्धि तथा इस भारत और विदेशों में इसकी मान्यता देखकर 1957 में पंजाब विश्वविद्यालय ने चण्डीगढ़ में विद्यमान अपने संस्कृत विभाग को होशियारपुर इस संस्थान में संयुक्त रूप से चलाने का निश्चय किया पर संवैधानिक कठिनाइयों के कारण उस समय ऐसा न हो पाया। आचार्य जी ने 1959 से संस्थान में स्नातकोत्तर संस्कृत शिक्षण प्रारम्भ कर दिया। विश्वविद्यालय ने भी उसको सम्बद्ध कालेज के रूप में मान्यता दे दी और संस्थान में विधिवत् संस्कृत एम.ए. की कक्षाएँ प्रारम्भ कर दी गईं । इसी बीच संस्थान की गतिविधियों तथा यहां के शोध विषयक कार्यों से प्रभावित होकर 1959 में ही कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने अपने यहां एक प्रस्ताव रखा कि 'विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान' होशियारपुर में अपने स्वरूप में रहता हुआ ही कुरुक्षेत्र



विश्वविषलय का अंग बना दिया जाय, पर किसी प्रकार की वैधानिक अड़चन आने के कारण कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय का यह प्रयास सफल नहीं हो सका ।

पंजाब विश्वविद्यालय के अधिकारी यह अच्छी प्रकार जान रहे थे, कि आसपास के विश्वविद्यालय इस संस्थान से अपना नाता जोड़ कर संस्कृत जगत में ख्याति प्राप्त करना चाहते हैं । अतः क्यों न हम एक बार पुनः प्रयास कर लें और इसको अपना अंग बना लें । इस दिशा में पंजाब विश्वविद्यालय ने 1965 में एक प्रस्ताव रखा कि विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर में ही प्रतिष्ठित रहता हुआ पंजाब विश्वविद्यालय का अंग बन जाय और उतने अंग के अनुरक्षण तथा विकास के लिए विश्वविद्यालय धन खर्च करे। यह प्रस्ताव विश्वविद्यालय की सिन्डिकेट तथा सीनेट में ध्वनिमत से पास होकर 1 जुलाई, 1965 से लागू हो गया। तभी से विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के प्रांगण के एक ही भवन में दो संस्थान अपना अपना स्वतन्त्र रूप से कार्य कर रहे हैं । उन में से —

क. जो विभाग विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान सभा के प्रबन्ध में कार्य कर रहे हैं वे इस प्रकार हैं :-

1. हिन्दी शिक्षण विभाग
2. डा. लुड्विक् स्टर्नबाख् महासुभाषित संग्रह सम्पादन विभाग
3. कम्प्यूटर शिक्षण
4. हिन्दी मासिक पत्रिका विश्वज्योति, संस्कृत त्रैमासिक विश्वसंस्कृतम् और अंग्रेजी वार्षिक वी.वी.आर.आई. रिसर्च बुलेटिन ।
5. अनुवाद विभाग
6. उपरोक्त सभी विभागों से सम्बन्धित प्रकाशन ।
7. पुस्तक विक्रय विभाग
8. मुद्रण विभाग तथा विश्व-सत्संग विभाग

ख. विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्कृत व भारत भारती अनुशीलन संस्थान के अधीन कार्य कर रहे विभाग :-

1. एम.ए. (संस्कृत), शास्त्री, आचार्य (प्राच्य) शिक्षण
2. विश्वेश्वरानन्द इण्डोलोजिकल जरनल षण्मासिक शोध पत्रिका
3. संस्कृत व भारत भारती शोध से सम्बन्धित कार्य का प्रकाशन
4. वैदिक कोष का निर्माण
5. पुस्तकालय

इसकी व्यवस्था के लिए पंजाब विश्वविद्यालय की सीनेट तथा सिन्डिकेट के नियन्त्रण में आठ सदस्यों का एक नियन्त्रण मण्डल गठित है। उसके अनुसार उस मण्डल के पंजाब विश्वविद्यालय के उपकुलपति पदेन प्रधान हैं । विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के संचालक पदेन सदस्य हैं । मण्डल के अन्य 6 सदस्यों में 3 सदस्य विश्वविद्यालय द्वारा तथा 3 सदस्य विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान द्वारा नामांकित किए जाते हैं । संस्थान द्वारा नामांकित सदस्यों में से किसी एक सदस्य को उप प्रधान बनाया जाता है । पद्मभूषण आचार्य विश्वबन्धु जी दोनों ही संस्थानों के आदरी संचालक रहे, इसलिए उनके स्वर्गवास के बाद संस्थान के प्रति उनके समर्पण की भावना का आदर करते हुए पंजाब विश्वविद्यालय ने अपने संस्थान के साथ

सदा के लिए उनका नाम जोड़कर अपने संस्थान को “विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्कृत व भारत भारती अनुशीलन संस्थान” इस प्रकार का नाम दे दिया ।

### लुड्विक् स्टर्नबाख् फाउण्डेशन –

डा.लुड्विक् स्टर्नबाख् का जन्म 12 दिसम्बर,1909 को पोलैण्ड के ब्रकावा प्रान्त में हुआ। अनेक भाषाओं के ज्ञाता होने पर भी संस्कृत के आप प्रकाण्ड पण्डित थे। अनेक ग्रन्थों को लिखने पर भी आपने अपने जीवन में जो महान् कार्य किया वह था, उनका सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य से सुभाषितों का संकलन। आपने भारत तथा विदेशों से उपलब्ध संस्कृत के सम्पूर्ण लौकिक साहित्य से तथा पुराने मुद्रित सुभाषितों में संकलित सुभाषितों के सुन्दर-सुन्दर पद्यों को स्थान, संकेत, पाठ-भेद, टिप्पण, छन्दोनिर्देशन, सन्दर्भ-ग्रन्थ व लेखक-सूची, विषय सूची तथा अंग्रेजी-अनुवाद सहित सम्पादित करके अकारादि क्रम से दिया है ।

आपने अपना सम्पूर्ण जीवन इसी को तैयार करने में लगाया । यही ग्रन्थ आपका परिवार, पुत्र आदि सब कुछ है । जब आप इसको छपवाना चाहते थे तो वे भारत वर्ष के अनेक संस्थानों में गए। किसी ने भी इस महान् ग्रन्थ को छापने की हिम्मत नहीं की । अन्त में आप ने आचार्य विश्वबन्धु जी से इस विषय में सम्पर्क किया। संस्थान से आपका बहुत पहले से ही सम्बन्ध था । आचार्य विश्वबन्धु जी से डा. स्टर्नबाख् अच्छी प्रकार परिचित थे। आचार्य जी के वैदुष्य से वे अत्यधिक प्रभावित थे, तथा यह भी समझते थे कि आचार्य विश्वबन्धु जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन वेदों के लिए ही समर्पित कर दिया।

आचार्य विश्वबन्धु जी के पास आकर उन्होंने अपना मन्तव्य रखा और कहा कि मैंने इस ग्रन्थ को ही अपना पुत्र समझा है। आचार्य विश्वबन्धु जी ने भी यह समझकर कि जिस प्रकार मैंने संस्थान को सब कुछ समझा, ऐसे ही इन्होंने इस ग्रन्थ को समझा, और उनके महान् ग्रन्थ का सम्पादन इत्यादि कार्य करके उसको अपने संस्थान से प्रकाशित करने की स्वीकृति दे दी ।

महासुभाषित संग्रह छपना प्रारम्भ हुआ। उसके पहले चार भाग डा. स्टर्नबाख् के जीवन काल में छप गए। वे बड़े प्रसन्न हुए कि अब मैं रहूँ या न रहूँ, यह ग्रन्थ सम्पूर्ण रूप से छप जायेगा। पांचवां भाग छप ही रहा था कि अकस्मात् हृदयगति के अवरोध से 25 मार्च, 1981 को डा. स्टर्नबाख् का निधन हो गया। निधन होने से पूर्व संस्थान द्वारा किए गए महासुभाषित संग्रह के उत्तम प्रकाशन से अति प्रसन्न होकर और अपनी मृत्यु से पहले ही अपनी सम्पत्ति तथा सन्दर्भ ग्रन्थ एवम् अनुसन्धान से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं की वसीयत विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के नाम कर गये। उनकी यह भी प्रबल इच्छा थी कि वसीयत से जो धनराशि संस्थान को दी गई है, उसके द्वारा महासुभाषित संग्रह का कार्य चलता रहे। वह राशि उसी पर खर्च हो। उनकी भावना का सम्मान करते हुए डा. स्टर्नबाख् द्वारा अर्पित धनराशि की सुरक्षा के लिए उनकी इच्छानुसार संस्थान की पूर्ण देखरेख और नियन्त्रण में ‘डा. लुड्विक् स्टर्नबाख् फाउण्डेशन’ की स्थापना की गई है।

सन् 1965 से संस्थान निरन्तर कार्य करता हुआ प्रगतिशील उन्नति करता रहा था कि अचानक सन् 1973 अगस्त प्रथम तारीख को दैवदुर्विपाक से संस्थान के आद्य संचालक पद्मभूषण आचार्य विश्वबन्धु जी अपने पांच भौतिक शरीर को छोड़कर यशःकाय से अमर हो गये।

### डी.ए.वी. कालेज प्रबन्धकर्त्री सभा से सम्बद्धता –

आचार्य विश्वबन्धु जी की इह लीला समाप्त कर लेने के बाद संस्थान का कार्य तो चलता रहा पर तत्पश्चात् संस्थान की कार्यकारिणी निरन्तर विचार करती रही कि, इस संस्थान का स्थायित्व सुनिश्चित कैसे किया जाय । विचार विमर्श के बाद निश्चय किया गया कि सर्वप्रथम लाहौर में इस संस्थान ने विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के रूप में डी.ए.वी. कालेज प्रबन्धकर्त्री सभा के संरक्षण में ही कार्य करना प्रारम्भ किया था, अतः उसी के साथ इसको संघटित कर दिया जाय । इस प्रकार विचार करने के पश्चात् दिनांक 31 दिसम्बर, 1978 को वी.वी.आर.आई. सभा की एक बैठक में संस्थान को डी.ए.वी. कालेज ट्रस्ट व मैनेजमेण्ट सोसाइटी के साथ सम्बद्धता के विषय में एक प्रस्ताव रखा गया। दो तीन वर्ष दोनों ओर के प्रतिनिधियों ने इस पर गम्भीरता से विचार किया । फलतः 16 अप्रैल, 1982 को सर्वसम्मति से प्रस्ताव स्वीकार कर उसी दिन से उसको निश्चित तौर पर किरायरूप प्रदान कर दिया गया। उसके आधार पर विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान अपने आन्तरिक प्रबन्धकीय, वित्तीय तथा सारस्वत मामलों में स्वायत्त रूप से कार्य करते हुए, डी.ए.वी. सभा का एक अंग होगा और डी.ए.वी. कालेज मैनेजिंग कमेटी के प्रधान ही इस सभा के भी प्रधान होंगे । प्रारम्भ में इस संस्थान के आजीवन सदस्य तथा वार्षिक सदस्य कम थे, पर अब इसके लगभग 256 आजीवन सदस्य तथा 24 वार्षिक सदस्य हैं । दोनों ही संस्थानों के सदस्य मिलजुल कर इसका कार्य सुचारु रूप से चलाते हैं । इस समय इसकी कार्यकारिणी में 26 सदस्य हैं । वर्तमान में इस संस्थान के प्रधान, पद्मभूषण प्रिंसिपल जी.पी. चोपड़ा जी हैं, जो डी.ए.वी. कालेज प्रबन्धकर्त्री सभा दिल्ली के भी प्रधान हैं । उप-प्रधान जस्टिस जी.आर. मजीठिया, चण्डीगढ़, तथा डा. ओ.पी. चौधरी, होशियारपुर हैं ।

स्वामी नित्यानन्द तथा स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी द्वारा शान्तकुटी शिमला में बीजरूप से संस्थापित यह संस्थान लाहौर में आचार्य विश्वबन्धु जी द्वारा प्रफुल्लित होता हुआ साधु आश्रम में आचार्य विश्वबन्धु जी के द्वारा संवर्द्धित होकर एक विशाल वृक्ष के रूप में विद्यमान है । उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञानरूपी फलों के रस का आस्वाद लेकर न केवल भारतीय विद्वान्-विहग अपितु विदेशी विद्वान्-विहग भी प्रसन्नचित्त होकर मुक्त कण्ठ से इसकी प्रशंसा करते हैं ।

इस प्रकार संस्थान रूपी विशाल वृक्ष अपने 100 वर्ष पूर्ण कर चुका है । इन सौ वर्षों में इस संस्थान ने वैदिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में जो कार्य किये उन्हीं को ध्यान में रखते हुए इस वर्ष इसकी शताब्दी मनाने का निश्चय किया गया । यही इस संस्थान की एक लम्बी कहानी है ।

## स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी

महापुरुष संसार में किन्हीं विशेष कार्यों को करने के लिए आते हैं और कार्य की समाप्ति पर अपने पांचभौतिक शरीर को छोड़कर मूलरूप में कहीं चले जाते हैं । भारतीय परम्परा में जहां भी देखेंगे ऐसा ही पायेंगे । वे लोक कल्याण के लिए ही जन्म लेते हैं । अपने आप कुछ नहीं लेते पर संसार को बहुत कुछ दे देते हैं । प्रभु को जिससे जिस प्रकार का कार्य कराना होता है, उसको उसी दिशा की ओर भेज देता है । जैसे वात्या जिधर चाहती है, वह रजःकणों को उसी दिशा की ओर मोड़ देती है। समय-समय पर महापुरुष, सन्त महात्मा, देश भक्त आते हैं और कार्य करके चले जाते हैं। उन्हीं महात्माओं में से स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी भी एक थे ।

स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी का जन्म 1850 के लगभग हुआ था। आप का जन्म जहां भी हुआ हो, पर उन्होंने अपने नाम के अनुरूप ही सम्पूर्ण विश्व को अपना घर समझा । उन्होंने बचपन में ही समझ लिया था कि 'परमपिता परमात्मा ने यह अमूल्य देह छोटे मोटे कार्य करने के लिए नहीं दी' उन्होंने इसी को अपना लक्ष्य बनाया और लोक कल्याण के लिए चल पड़े । विद्याध्ययन किया, बाद में सन्यासी बन गये । विश्वेश्वरानन्द जी बचपन से ही स्वामी दयानन्द जी के सिद्धान्तों से प्रभावित थे । उन्होंने अपनी छोटी अवस्था में ही सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेद-भाष्यभूमिका तथा संस्कार विधि इत्यादि का अध्ययन कर लिया था। स्वामी जी जनसाधारण में साधारण प्रवचन करते पर विद्वानों के साथ विद्वत्तापूर्ण बातें करते । वे संस्कृत अच्छी बोलते थे ।

धीरे-धीरे उनको यह ज्ञान होने लगा कि आज जो कुछ भी ज्ञान के रूप में वेदों का सम्मान है, क्या कोई बाद में भी इस वैदिक ज्ञान को समझ पायेगा । वेद समाज से बहुत दूर जा रहे हैं या समाज वेद से बहुत दूर । कारण है, उसकी भाषा का न जानना । कभी समय था जब ऋषियों को वेदों के रहस्यों का ज्ञान था, पर स्वामी जी के समय तक वैदिक भाषा लौकिक संस्कृत से काफी पीछे रह गई थी । यद्यपि इससे पहले भी यास्क जैसे विद्वानों ने इस बात को समझा । उन्होंने पदों को इकट्ठा किया और उनकी निरुक्ति की, पर वे सारे वैदिक शब्द नहीं अपना पाये थे । अतः स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी भी इसी प्रकार से कोई ऐसी युक्ति निकालना चाहते थे। जिससे आगामी पीढ़ी वैदिक शब्दों के अर्थों को सरलता से समझ सके । उन्होंने स्वामी दयानन्द जी की ऋग्वेद-भाष्यभूमिका का अध्ययन किया था । उसी से प्रभावित होकर वे तदनु रूप कुछ कार्य करना चाहते थे, पर उनको कोई ऐसा दूसरा विद्वान् नहीं मिल रहा था जो उनके कन्धे से कन्धा मिला कर चलता ।

### दो स्वामियों का मिलन –

दैवयोग कहिए या प्रभु की प्रेरणा अथवा साक्षात् मां सरस्वती की इच्छा। स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी प्रायः आर्य समाज के समारोहों में जाते रहते थे । वे एक स्थान पर कभी नहीं रहते, गर्मी हो, या सर्दी, बरसात हो या हेमन्त, प्रायः भ्रमण ही करते । एक बार जब स्वामी जी किसी समारोह में मथुरा गए हुए थे, लौटते हुए जब वे दिल्ली जा रहे थे, तब गाड़ी गाजियाबाद स्टेशन पर रुकी। उन्होंने देखा कि एक दिव्याकृति वाला ब्रह्मचारी उसी डिब्बे में आ रहा है। लम्बे-लम्बे बाल, पैरों में खड़ाऊं, ब्रह्मचारी वेष । वे

थे ब्रह्मचारी नित्यानन्द । नित्यानन्द जी जीवन भर ब्रह्मचारी वेश में ही रहे । उन्होंने 45 वर्ष की अवस्था में सन्यास धारण किया था । मृत्यु 54 वर्ष की अवस्था में हुई ।

ब्रह्मचारी नित्यानन्द (बाद के स्वामी) गाजियाबाद से दिल्ली जा रहे थे । दैवयोग से उसी डिब्बे में चढ़े जिसमें स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी बैठे थे । हो सकता है नित्यानन्द जी स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी की तेजस्विता को देख कर ही उस डिब्बे में चढ़े हों । जो भी हो दोनों का यह प्रथम मिलन था जो कि जीवन पर्यन्त बना रहा ।

स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी तथा ब्रह्मचारी नित्यानन्द जी दोनों के विचारों में भिन्नता थी । बातचीत हुई, शास्त्रीय चर्चा हुई । दोनों ने अपने-अपने विचारों के अनुरूप अपने भाव अभिव्यक्त किए । दोनों ही विचार विमर्श में इतने लीन हो गए कि दिल्ली कब आ गई यह ज्ञान ही नहीं हुआ ।

दिल्ली स्टेशन पर उतरे, स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी ने अपने किसी भक्त के यहां जाना था, ब्रह्मचारी नित्यानन्द जी भी उन्हीं के साथ चल पड़े । दोनों एक ही स्थान पर चार-पांच दिन ठहरे । इस बीच दोनों में अनेक विषयों पर बातचीत हुई । वस्तुतः दोनों पृथक् पृथक् विचारधारा के होने पर भी वेदों की रक्षा कैसे हो, कैसे भावी पीढ़ी के लिए इनका सरलीकरण हो इत्यादि विषय पर दोनों एकमत हो गए और निश्चय कर लिया कि ऐसी कोई योजना बनाई जाय जिससे वेदविद्या की रक्षा के साथ-साथ उसके वास्तविक अर्थों को भी जनता तक उजागर किया जाये ।

उन्हीं दिनों मेरठ में आर्य समाज का वार्षिक उत्सव था । स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी के लिए वहां से निमन्त्रण आया साथ ही ब्रह्मचारी (स्वामी) नित्यानन्द जी को लेने के लिए व्यक्ति भी आया । दोनों ही मेरठ गए तथा उत्सव में सम्मिलित हुए । स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी वहां दो-तीन दिन के लिए अमृतसर गए । पुनः मेरठ ही लौटकर आ गए ।

स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी शास्त्रीय पण्डित थे, उनको लगभग सभी शास्त्रों का ज्ञान था । वे मननशील मुनि थे । किसी भी विषय के तल तक पहुंचना उनका स्वभाव था । वे संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे । नित्यानन्द जी से प्रायः संस्कृत में ही बातचीत करते थे । वे वक्ता कम ज्ञानी अधिक थे । अवस्था में नित्यानन्द जी से 10 वर्ष बड़े होने के कारण नित्यानन्द जी उनको बड़े भाई के समान समझते थे । स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी स्थान-स्थान पर आर्य समाज का प्रचार करते । स्वामी नित्यानन्द जी उनके साथ जाते । दोनों साथ-साथ रहते, अगर कभी पृथक्-पृथक् भी जाते तो परस्पर पत्र व्यवहार करते रहते ।

स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी की अवस्था दिन प्रतिदिन बढ़ रही थी । अब वे वेदविद्या के लिए भी कुछ कर जाना चाहते थे । स्वामी दयानन्द जी के सिद्धान्तों से प्रेरित हो कर तथा उनके साहित्य को पढ़कर वे वेदविद्या के लिए कुछ करने का तो पहले ही मन बना कर चुके थे अब अनुभव करने लगे कि शीघ्र ही चारों वेदों का एक ऐसा कोष बनाया जाये, जिसमें वैदिक व्याकरण के अनुसार प्रत्येक पद का सरल अर्थ दिया जाये साथ ही उसमें मूल धातु और उस पर लगे प्रत्यय इत्यादि का ज्ञान भी कराया जाये । दूसरे धर्म के मानने वालों के तथा विदेशी विद्वानों ने या स्वच्छन्दरूप से भारतीय विद्वानों ने जो जो अर्थ किए हैं उनको भी यथास्थान दिया जाये । इसके लिए पहले सभी शब्दों को एकत्रित कर उनको अकार आदि क्रम से रखकर प्रत्येक वेद के पदों की पृथक्-पृथक् अनुक्रमणिका पहले तैयार होनी चाहिए । यह योजना इतनी बड़ी थी कि इसके लिए विद्वानों की आवश्यकता तो थी ही, उससे भी अधिक आवश्यकता थी धन की । धन के विषय

में स्वामी जी को चिन्ता नहीं थी। स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी तथा स्वामी नित्यानन्द जी का बड़े-बड़े राजा महाराजाओं से सम्पर्क था। उनके सामने योजना रखने पर धन प्राप्ति सरलता से हो सकती थी।

सन् 1903 की बात है कि बड़ौदा के स्वर्गीय नरेश महाराजा सर सयाजीराव गायकवाड़ गर्मी के समय में कश्मीर जा रहे थे। उनका स्वामी विश्वेश्वरानन्द तथा स्वामी नित्यानन्द जी से अच्छा परिचय था। महाराजा ने दोनों ही स्वामियों को कश्मीर चलने का निमन्त्रण भेजा। स्वामी नित्यानन्द जी पहले ही कुल्लू घाटी गए हुए थे।

स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी रावलपिण्डी से ही महाराजा के साथ चल पड़े। श्रीनगर पहुंचने पर स्वामी नित्यानन्द जी को भी महाराजा ने वहीं बुला लिया। कुछ समय पश्चात् स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी शिमला वापिस आ गए। नित्यानन्द जी ने महाराजा गायकवाड़ से कोष सम्बन्धी बात की जो सफल हो गई। कोष के लिए धन एकत्रित होने लगा।

धन के एकत्रित होने पर स्वामी नित्यानन्द जी के सहयोग से स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी ने चारों वेदों की अनुक्रमणिकाएं बनानी प्रारम्भ कर दीं। पदानुक्रमणिकाओं का सम्पादन काशी में होता था और उनकी छापाई उस समय के सुप्रसिद्ध निर्णयसागर प्रैस बम्बई में होती थी।

1907 में चारों वेदों की पदानुक्रमणिकाएं दोनों ही स्वामियों के अथक परिश्रम से सम्पादित हो गईं। अब वैदिक कोष का सम्पादन प्रारम्भ कर दिया गया। इस बीच स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी विशेषरूप से कहीं आर्य समाज के समारोह में सम्मिलित भी नहीं हुए। वे शीघ्रातिशीघ्र इस कार्य को सम्पन्न करना चाहते थे। दैवदुर्विपाक से स्वामी नित्यानन्द जी इतने अस्वस्थ हो गए कि 8 जनवरी, 1914 को वे इहलोक-लीला पूर्ण कर स्वर्ग सिंघार गए।

स्वामी नित्यानन्द जी के स्वर्गवास होने पर स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी को महान् आघात पहुंचा। उनके चले जाने से कोष निर्माण के कार्य में रुकावट आ गई। परन्तु शीघ्र ही स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी ने जो उस समय 64 वर्ष के थे पुनः कार्य करने के लिए अपने मन को पक्का कर लिया। स्वामी जी के पास चारों तरफ से सन्तों, महात्माओं, वैदिक विद्वानों, विभिन्न धर्मावलम्बियों, राजाओं और महाराजाओं के सान्त्वना पत्र पहुंचने प्रारम्भ हो गए। सभी ने स्वामी जी को स्वामी नित्यानन्द जी द्वारा प्रारम्भ किए गए वैदिक कोष को आगे बढ़ाने का निवेदन किया।

स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी आत्मज्ञानी, दृढ़ इच्छाशक्ति सम्पन्न तथा प्रयत्नशील थे, उन्होंने कोष का कार्य आगे बढ़ाया। वे इसी कार्य को बढ़ाने के लिए बनारस, औंध (सतारा), इन्दौर तथा मैसूर के विद्वानों से मिले। उनसे सहयोग लिया और कार्य आगे बढ़ाया। स्वामी जी इन्दौर के महाराजा होल्कर को कोष सम्बन्धी जानकारी देते रहते थे। इसी परम्परा में उन्होंने होल्कर दरबार से बात की। महाराजा होल्कर ने स्वामी जी से शिमला से इन्दौर आने का आग्रह किया। स्वामी जी उनके आग्रह पर इन्दौर चले गए। वहां उनको अपने कार्य के लिए जिस प्रकार के विद्वान् को चाहते थे, ऐसा विद्वान् नहीं मिला। विद्वान् तो वे खुद थे ही, वह भलीभांति समझते थे कि इस प्रकार के वैदिक कोष के कार्य को वही विद्वान् कर सफलतापूर्वक कर सकता है, जिसकी वेद के विषय में गहरी पैठ हो, प्राच्य भाषा का पण्डित हो तथा अंग्रेजी भाषा पर भी उसकी पूरी पकड़ हो। कर्मठ हो, सादा जीवन, उच्च विचारवान् हो। उसमें संस्कृत के प्रति प्रेम, देश के प्रति भक्ति तथा काम करने और विद्वानों से काम लेने की शक्ति हो। अतः इन्दौर में उनका प्रयोजन हल नहीं हुआ। वे चिन्तित रहने लगे, आयु का बढ़ना, विद्वानों का न मिलना, कार्य का शनैः शनैः चलना उनकी चिन्ता का विषय बन गया। वे पुनः गर्मियों में शिमला वापिस आ गए।

यहां भी एक घटना घटी । राय बहादुर मूलराज जी सेवा से मुक्त हो गए थे । सेवामुक्ति के बाद वे अपने पुत्र डा. केदारनाथ के पास शिमला जाया करते थे । आर्य समाज के विद्वान् होने के नाते उनका स्वामी जी से अच्छा परिचय था । स्वामी जी उनसे मिलने डाक्टर साहब के घर पर गए । वहां उन्होंने अपनी समस्या राय बहादुर मूलराज जी के सामने रखी । रा. ब. मूलराज जी स्वयं विद्वान् थे । वेद विषय से परिचित थे, वेदों का कोई कोष निकाले इसके पक्षपाती थे । स्वयं उनकी रुचि भी अनुसन्धान के क्षेत्र में थी । रा.ब. जी स्वामी जी द्वारा किए गए कार्य को देखने के लिए शान्त कुटी गए । वहां उन्होंने कोष के कार्य को देखा और समझा । विद्वान् तो थे ही । साथ ही साथ आधुनिक विद्याओं के ज्ञाता तथा आधुनिक अनुसन्धान की प्रक्रिया के भी विशेषज्ञ थे । उन्होंने कार्य के निरीक्षण के बाद पाया कि यह एक विशाल कार्य है, पर अभी यह ठीक प्रक्रिया से नहीं हो रहा है । आपने स्वामी जी से नम्रतापूर्वक सामग्री लेकर लाहौर आने के लिए कहा । लाहौर उस समय आर्य समाज का महान् केन्द्र तो था ही, साथ ही विद्वानों की भी नगरी थी। विद्या के क्षेत्र में लाहौर का उस समय विशिष्ट स्थान था । पंजाब विश्वविद्यालय में संस्कृत के पठन पाठन की अच्छी व्यवस्था होने से लाहौर शिक्षा का भी केन्द्र माना जाता था ।

रा.ब. मूलराज के कहने पर स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी 1923 के उत्तरार्द्ध में लाहौर आए और कई महीने वहां रहे । स्वामी जी रा.ब. मूलराज के कथनानुसार सर्वप्रथम महात्मा हंसराज जी से मिले । महात्मा हंसराज जी को उस समय के सभी उदीयमान विद्वानों का पता था । महात्मा हंसराज जी आचार्य विश्वबन्धु जी के वैदुष्य, कर्मठता, वेद के प्रति अपार निष्ठा और त्यागभाव से अतीव प्रसन्न थे । वे अच्छी प्रकार समझते थे कि यह बालक एक दिन अनुसन्धान के क्षेत्र में विद्वानों का शिरमौर होगा । उस समय आचार्य विश्वबन्धु जी दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय के आचार्य थे । दयानन्द महाविद्यालय की स्थापना 1921 में हुई थी । स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी रा.ब. मूलराज जी तथा महात्मा हंसराज जी के साथ आचार्य विश्वबन्धु के पास गए । उन्होंने आचार्य जी को वैदिक कोष के कार्यभार को उठाने के लिए कहा । भला महात्मा हंसराज जी जिस महात्मा के साथ आये, आचार्य विश्वबन्धु उनके कार्य के लिए मना कर दें, यह संभव न था । आचार्य विश्वबन्धु महात्मा हंसराज जी के परम भक्त थे । आचार्य विश्वबन्धु जी ने ब्राह्म महाविद्यालय के कार्य के साथ साथ कोष निर्माण के कार्य को भी सहर्ष स्वीकार कर लिया । जनवरी 1924 से वैदिक कोष का कार्य शिमला से वैदिक आश्रम लाहौर आचार्य जी के पास स्थानान्तरित कर दिया । स्वामी जी ने आर्थिक साधन जुटाने का भार अपने ऊपर लिया । यद्यपि स्वामी जी की अवस्था उस समय काफी थी पर वे धुन के पक्के थे । आर्थिक साधनों के जुटाने में लग गए । तभी से संस्थान का नाम विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट रख दिया गया । आचार्य विश्वबन्धु उसके निदेशक नियुक्त हुए और अब वे इस कार्य को भी समय देने लग गए ।

1924 की गर्मियों में आचार्य विश्वबन्धु जी शिमला गए हुए थे । उन्होंने जिस प्रकार वैदिक कोष की रूपरेखा तैयार की थी वह रा.ब. मूलराज जी तथा स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी के समक्ष रखी । दोनों को आचार्य जी की रूपरेखा पसन्द आई । उन्हीं दिनों महामना मदन मोहन मालवीय जी शिमला में स्वामी जी के पास शान्त कुटी में ठहरे हुए थे । उन्होंने भी आचार्य जी द्वारा तैयार की गई कोष की रूपरेखा को देखा । उसका गम्भीरता से अध्ययन किया और पाया कि इतनी छोटी उम्र के युवा द्वारा जो इस प्रकार की रूपरेखा तैयार की गई है, निश्चय ही यह उसके उज्ज्वल भविष्य का सूचक है । यह युवा एक दिन निश्चय ही इस दिशा में अद्भुत कार्य करेगा, यह सोच कर मालवीय जी ने आचार्य जी को अपने हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में इस कार्य को करने का निमन्त्रण दिया तथा इस कार्य के लिए 20 लाख रुपये तक की धनराशि का प्रबन्ध करने का प्रस्ताव रखा । पर आचार्य जी तो पहले ही आर्य समाज के लिए अपने को समर्पित कर चुके थे । उन्होंने महामना मालवीय जी का धन्यवाद करते हुए उस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया । आचार्य जी की समर्पण भावना से मालवीय जी तो प्रभावित हुए ही साथ ही स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी को भी

जब इस पूरे वृत्तान्त का पता चला तो उनका हृदय आनन्द से गदगद हो गया । उन्होंने समझा कि अब मेरा मिशन समाप्त हुआ । उनको अपार प्रसन्नता हुई । असीम आनन्द का अनुभव हुआ और निश्चय हुआ कि जिस कोष के निर्माण के लिए हम सतत प्रयत्न करते रहे, वह अब एक विद्वान् के हाथों में सौंप दिया जो इस कार्य को हमारी भावना के अनुरूप करके संसार को वेद के क्षेत्र में एक ऐसा ग्रन्थ प्रदान कर जायेगा, जो अद्भुत होगा ।

स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी को जब यह आभास हो गया कि अब कोष का काम अवश्य पूर्ण होगा तो उन्होंने अपने पास जो डेढ़ लाख रुपये थे उनकी तथा अपनी सम्पत्ति की एक वसीयत वैदिक कोष के कार्य के निमित्त कर दी । साथ ही विश्वेश्वरानन्द सम्पत् प्रबन्धिनी सभा भी बना दी । उस सभा में उन्होंने निम्नलिखित व्यक्तियों को रखा :-

1. राय बहादुर लाला रला राम, सी.आई.ई., आई.एस.ओ.(अध्यक्ष),
2. पं. मदन मोहन मालवीय,
3. महात्मा नारायण स्वामी,
4. स्वामी सर्वदानन्द,
5. सर जयलाल,
6. सेठ रणछोड़ दास भवान,
7. डा. कल्याण दास जे. देसाई,
8. श्री विश्वबन्धु और
9. डा. केदारनाथ(मन्त्री) ।

इस प्रकार कोष का काम अच्छे हाथों में चले जाने के कारण अपनी चल-अचल सम्पत्ति की वसीयत करने के बाद तथा विश्वेश्वरानन्द सम्पत् प्रबन्धिनी सभा को बनाने के बाद स्वामी जी अपने को मानों पूर्ण स्वतन्त्र समझने लगे । समय आया स्वामी जी लगभग दो मास अस्वस्थ रहे और 23 नवम्बर, 1925 को उनकी इहलोक लीला समाप्त हो गई । स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी ने स्वामी नित्यानन्द जी के साथ मिलकर जिस छोटे से संस्थान की नींव रखी थी, वह आज देश विदेशों में ख्याति प्राप्त करता हुआ विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान है । आज संस्थान की शताब्दी पर स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी को स्मरण करते हुए उनके विषय में ये चन्द शब्द लिखे गए हैं ।



## स्वामी नित्यानन्द

भारत भूमि की यह विशेषता रही है, कि आवश्यकता पड़ने पर यहां महापुरुषों, सन्तों, महात्माओं तथा शूरवीरों और विद्वानों ने पैदा होकर लोक कल्याण के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर असंभव कार्य को भी सम्भव बनाकर एक ऐसी रेखा खींच दी जिस पर उनके बाद चलने वाले बिना किसी रुकावट के बढ़ते गए । वे जिन मान्यताओं की नींव डाल गए, उनको पूरा करने के लिए अपने जैसे ही महापुरुष को अपने प्रभाव से प्रभावित कर भावी जनता के कल्याण के लिए तैयार कर गए । उन्हीं महापुरुषों में स्वामी नित्यानन्द जी का नाम बड़े गौरव से लिया जाता है, जिनका नाम आज भी अमर है । उनके द्वारा 1903 में शान्त कुटी शिमला में आरोपित यह छोटा सा पौधा आज एक विशाल वृक्ष के समान विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के रूप में न केवल भारत में अपितु विश्व में विख्यात है ।

ब्रह्मचारी (बाद में स्वामी) नित्यानन्द जी ने अपने जन्म से जालोर नामक स्थान को अलंकृत किया । यह स्थान राजस्थान में है। स्वामी जी का बचपन का नाम रामदत्त था । आपके पूज्य पिता जी का नाम पण्डित पुरुषोत्तम दत्त जी तथा पूज्या माता जी का नाम श्रीमती कृष्णा देवी था । स्वामी नित्यानन्द जी का जन्म भाद्रपद शुक्ला 14 चतुर्दशी सम्वत् 1917 में हुआ । स्वामी जी चार भाई तथा दो बहिनें थे । स्वामी जी साधारण बालकों के समान खेलकूद में रुचि नहीं रखते थे । वे बचपन से ही धार्मिक प्रवृत्ति के थे । स्वामी जी का माता के प्रति अत्यधिक स्नेह था। आपकी माता सरल, सहृदय उदार तथा सहिष्णु थीं । प्रायः देखा गया है कि, जिस बालक पर पिता की अपेक्षा माता का प्रभाव अधिक होता है, वह निःसन्देह धार्मिक, वीर या एक विलक्षण शक्ति सम्पन्न होता है । स्वामी जी पूर्णरूपेण अपनी माता से प्रभावित थे, यही कारण है कि उनमें बचपन से ही सहिष्णुता इत्यादि गुण विद्यमान थे। स्वामी जी का अपने नाना-नानी से बहुत ही लगाव था, वे माता-पिता के पास कम तथा नाना-नानी के पास अधिक रहते थे । उनके नाना जी उस समय के एक अच्छे पढ़े लिखे विद्वान् थे। वेद के अच्छे पण्डित तो थे ही, वेदाङ्ग में भी उनकी पूरी रुचि थी। स्वामी जी ने नाना जी के पास ही रहकर धार्मिक ग्रन्थों एवम् अन्य संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन किया था। उन्होंने अपने बचपन में ही सैंकड़ों संस्कृत के पद्य कण्ठस्थ कर लिए थे । संस्कृत के अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त वेद तथा दर्शन के भी छोटे मोटे ग्रन्थों का अध्ययन भी उन्होंने अपने नाना जी से ही कर लिया था । पर ज्ञान असीम है । विषय अनेक हैं । इसलिए उनके नाना जी की भी इस दिशा में एक सीमा थी । 'नहि सर्वे सर्वं जानन्ति' सभी लोग सभी कुछ नहीं जानते इस उक्ति के आधार पर, नाना जी को जो कुछ आता था, वह उन्होंने स्वामी जी को पढ़ा दिया; पर स्वामी जी को कहां सन्तोष होने वाला था। जिन को संसार में कुछ करना होता है, बनना होता, कुछ सीखना होता है, प्राप्त करना होता है, वे गंगा की धारा के समान अविच्छिन्न रूप से प्राचीनता को न छोड़ते हुए भी नवीनता के लिए आगे बढ़ते हैं । वे कुशाग्र बुद्धि थे, परिश्रमी थे, जो उनको पढ़ाया जाता उसे वे तुरन्त कण्ठस्थ कर लेते थे ।

उनकी लौकिक विषयों से विरक्ति तथा शास्त्रीय विषयों में आसक्ति थी । वे कुछ बनना चाहते थे, बहुत कुछ सीखना चाहते थे अतः नाना जी के पास रहकर अब अधिक पढ़ने को नहीं था, जितना उन्हें आता था, वे स्वामी जी को पढ़ा चुके थे । उस समय काशी नगरी विद्या का उद्गम तथा पण्डितों की नगरी मानी जाती थी, स्वामी जी काशी जाने के लिए व्याकुल रहते । पर अपने पिता जी से कह नहीं पाते थे । कुछ दिन इसी प्रकार बीते, एक दिन उन्होंने सम्पूर्ण साहस बटोर कर आखिर पिताजी के सामने अपने मन के भाव रखते हुए कह ही दिया कि "मैं पढ़ने के लिए काशी जाना चाहता हूं, आप मेरा काशी भेजने का प्रबन्ध कर दें"। स्वामी जी द्वारा पढ़ने के लिए काशी जाने का प्रस्ताव सुन कर घर में सबको चिन्ता हो गई ।

चिन्ता खर्च की नहीं, चिन्ता इस बात की हुई कि काशी बहुत दूर है और बालक की अवस्था अभी छोटी है । इतनी छोटी अवस्था में बालक को हजारों मील दूर भेजने में सभी माता पिता को इसी प्रकार की चिन्ता हो सकती थी । पिता ने उनको काफी समझाया, माता ने आंसू बहाये, पर बालक रामदत्त टस से मस न हुआ और काशी जाने की इच्छा को नहीं बदला । जब उन्होंने देखा कि माता-पिता मोह में इतने बंधे हुए हैं कि वे किसी भी प्रकार काशी जाने की स्वीकृति नहीं देंगे तब चुपचाप घर छोड़ कर चले जाने की योजना बनाते रहे ।

एक दिन वे गांव को छोड़कर अहमदाबाद की ओर चल पड़े । उस समय उनकी अवस्था लगभग 16 वर्ष के करीब रही होगी ।

अहमदाबाद में उनका श्रीबूटा नाम के जैन साधु से सम्पर्क हुआ। वे उसके साथ रहने लग गए । स्वामी जी वेदान्ती थे, पर दूसरे मत से उनको कोई विरोध न था । उन्होंने जैन विद्वान् साधु से जैन धर्म का पूरे मनोयोग से अध्ययन किया, उसकी बारीकियों को समझा । जब उन्होंने देखा कि इन के पास भी जो विद्या थी वह ग्रहण हो गई है; अब यहां से कुछ अधिक मिलने वाला नहीं; तब स्वामी जी ने श्रीबूटा महाराज के आश्रम को छोड़ने का मन बना लिया ।

स्वामी जी बहुत ही बुद्धिमान्, विनम्र, होनहार तथा ज्ञानग्राही थे। इसलिए श्रीबूटा महाराज उनको कदापि छोड़ना नहीं चाहते थे । यद्यपि बूटा महाराज के पास अन्य भी शिष्य थे पर स्वामी जी जैसा नहीं। वे स्वामी जी को जैन धर्म में लाना चाहते थे; उन्होंने यहां तक भी मन बना लिया था कि इनको अपनी गद्दी का उत्तराधिकारी बना दें, पर स्वामी जी अपने को अभी से किसी धर्म विशेष के बन्धन से बांधना नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने बूटा महाराज जी को अपना मन्तव्य स्पष्ट रूप से बता दिया।

श्रीबूटा महाराज के आश्रम को छोड़कर स्वामी जी पैदल ही काशी की ओर चल पड़े । उनके अपने पास कोई विशेष सामान तो था नहीं, अतः जहां चाहते ठहरते और पुनः गन्तव्य की ओर चल पड़ते । अहमदाबाद से चलकर वे सर्वप्रथम बम्बई पहुंचे । बम्बई का नाम उन्होंने बहुत पहले से सुना हुआ था । वहां की चमक दमक, भीड़ भड़ाका स्वामी जी को अच्छा नहीं लगा और वे शीघ्र ही वहां से पूना की ओर चल पड़े । इस महान् ऐतिहासिक नगर को देखने के बाद वे सतारा गए वहां भी कुछ दिन ठहरकर हिन्दुओं की धार्मिक नगरी नासिक चले गए।

घर से चल कर स्वामी जी इसी प्रकार भारत के अनेक नगरों, तीर्थों, विद्यास्थानों तथा आश्रमों में भ्रमण करते रहे । उसके बाद अपने गन्तव्य स्थान विश्वनाथ की नगरी काशी में पहुंचे । काशी पहुंचते ही स्वामी जी की बचपन से काशी जाने की इच्छा ही समाप्त नहीं हुई, अपितु वहां पहुंचकर उनको अपार हर्ष भी हुआ । काशी पहुंचने के लिए ही तो वे घर से चुपचाप चले थे। वे पैदल मीलों चलते, कहीं मिल गया तो खा लिया, नहीं तो जहां सूर्य छिपा वहीं डेरा डाल दिया । स्वामी जी ने काशी में रहते हुए विनम्र भाव से अनेक विद्वानों से वेद, दर्शन, धर्म, व्याकरण इत्यादि विषयों तथा गूढ़ ग्रन्थों का अध्ययन किया ।

काशी में निवास करते हुए उनकी अवस्था लगभग 20 वर्ष की रही होगी । स्वामी जी नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे । नियमतः धार्मिक कृत्य करते। जो कुछ विद्वानों से पढ़ते उस पर मनन करते और अपने जीवन में उसको ढालने का प्रयत्न करते ।

शिक्षा ग्रहण करने के बाद वे पुनः भ्रमण के लिए निकल पड़े । वे तप और त्याग की मूर्ति थे, ब्रह्मचारी के वेश में रहते हुए वे शिर पर जटा रखते तथा पैरों में खड़ाऊं पहनते थे । वे शरीर पर वस्त्र भी

विशेष नहीं पहनते थे । उन पर सरस्वती की अपार कृपा थी । जब वे उपदेश करते तो सैंकड़ों नर-नारियां मन्त्र मुग्ध होकर उनका भाषण सुनते । वे स्वयं भी प्रवचन करते समय भावविभोर हो जाया करते थे

यद्यपि स्वामी जी भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत तथा महाभारत आदि ग्रन्थों को आधार मान कर अपने प्रवचन करते या प्रसंगवश कथा सुनाते थे पर विशेषकर वे मर्यादापुरुषोत्तम राम के चरित्र को ही सुनाते थे । जिस समय वे उनके चरित्र को सुनाते कभी कभी तो वे इतने भाव विह्वल हो जाते कि उनको यह भी सुध नहीं रहती कि वे कहां हैं और क्या कह रहे हैं । श्रोता गण भी उन्हीं के साथ भाव विभोर होकर तन्मयीभाव से अश्रुधारा बहाने लगते । वे कानपुर, कन्नौज, शाहजहांपुर, बरेली आदि अनेक स्थानों में अपने प्रवचन करते हुए नैमिषारण्य में आए और प्राचीन ऋषियों की वह भूमि उनको इतनी अच्छी लगी कि भ्रमण की इच्छा होने पर भी उस स्थान को नहीं छोड़ सके और तीन वर्ष तक वहीं रहे ।

उनकी योग्यता वक्तृत्व शक्ति, तपस्या तथा कर्मठता इत्यादि गुणों से प्रभावित होकर यद्यपि अनेक धर्मावलम्बियों ने उनको अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया पर वे तटस्थभाव से ही परम्परा प्राप्त ज्ञान के द्वारा अपने स्वाभाविक विचारों से जनता को सम्बोधित करते । धीरे धीरे आर्य समाज के विचारों से प्रभावित होते गए, अन्त में भक्ति और वेदान्त के मार्ग को छोड़कर स्वामी दयानन्द जी के ज्ञान और कर्म के मार्ग को अपनाकर जनता जनार्दन को उसका उपदेश करते रहे ।

आर्य समाज का यह प्रभाव उन पर काशी में ही पड़ गया था । ब्रह्मचारी नित्यानन्द जी जब काशी में रहते थे तभी वहां गोपालगिरि नामक सन्यासी से उनका परिचय हुआ । गोपालगिरि जी वेद के विद्वान् तो थे ही साथ ही साथ वे स्वामी दयानन्द जी को व्यक्तिगत रूप से भी जानते थे । वे स्वामी दयानन्द जी के साथ तो नहीं रहे थे पर जब स्वामी दयानन्द जी की मृत्यु हुई उस समय गोपालगिरि स्वामी जी के पास अजमेर में ही थे । उन्होंने स्वामी जी की यन्त्रणा स्वयं देखी थी । वे स्वामी दयानन्द जी के साहस, वैदुष्य तथा लोककल्याणकारी भावना से बहुत प्रभावित थे । जब ब्रह्मचारी नित्यानन्द जी काशी में उनसे मिले तो उन्होंने ब्रह्मचारी जी को सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका तथा अन्य आर्य समाज के ग्रन्थ पढ़ने के लिए दिए । जिज्ञाषु नित्यानन्द जी ने सभी ग्रन्थों का आद्योपान्त अध्ययन किया तथा कहीं शंका होने पर गोपालगिरि जी द्वारा उसका वास्तविक रहस्य जाना । उसके बाद वे अनेक स्थानों पर भ्रमण करते हुए उत्तर प्रदेश पहुंचे ।

उत्तर प्रदेश में भ्रमण करते हुए ब्रह्मचारी जी बरेली पहुंचे, वहां उनका आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान् पं. यज्ञदत्त जी से परिचय हुआ । यज्ञदत्त जी एक प्रतिष्ठित विद्वान् तथा गणमान्य व्यक्तियों में से थे । आर्य समाज में उनकी महती प्रतिष्ठा थी, पं. यज्ञदत्त जी जब ब्रह्मचारी जी से मिले और उनकी परस्पर शास्त्र विषयक चर्चा हुई तब पं. यज्ञदत्त जी ब्रह्मचारी नित्यानन्द जी के पाण्डित्य से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उनसे वेदान्त विद्या पढ़ने की इच्छा व्यक्त की । ब्रह्मचारी जी ने उनकी बात को स्वीकार किया और उनको वेदान्त पढ़ाने लग गए । कुछ समय पश्चात् स्वामी जी ने देखा कि पं. यज्ञदत्त जी भी कम विद्वान् नहीं, वह भी उनसे पढ़ने लगे । शनैः शनैः ब्रह्मचारी जी की आर्य समाज के प्रति इतनी रुचि बढ़ी कि उन्होंने आर्य समाज की सेवा करने का निश्चय ही कर लिया ।

ब्रह्मचारी नित्यानन्द जी प्रवचन करते करते जब एक बार शाहजहांपुर की तिलहर नामक तहसील में पहुंचे वहां उनका एक भक्त था जो सनातनी सिद्धान्तों को मानता था । वहीं चिम्मन लाल नाम के एक वैश्य थे, जो स्वामी दयानन्द जी के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर आर्य समाज के अच्छे समर्थक तथा प्रचारक थे । जब उनको पता चला कि ब्रह्मचारी जी अपने भक्त के यहां ठहरे हैं, वे ब्रह्मचारी जी को मिलने उनके घर पर

ही चले गए । वार्तालाप हुआ, चिम्मनलाल जी ब्रह्मचारी जी से इतने प्रभावित हुए कि वे नित्य प्रति ही उनसे मिलने

आने लगे। चिम्मन लाल जी ने ब्रह्मचारी जी से कई बार अपने यहां चलने की प्रार्थना की किन्तु ब्रह्मचारी जी नहीं माने । अन्त में बहुत आग्रह करने पर वे चिम्मन लाल जी के घर चले गए और 6 मास उन्हीं के यहां ठहरे । जब ब्रह्मचारी उनके घर से अन्यत्र गये तो उनको वचन दे गए कि मैं अब आर्य समाज का कार्य प्रारम्भ कर दूंगा। उस समय ब्रह्मचारी जी की अवस्था केवल 23 वर्ष की थी । उसके बाद वे जहां भी जाते वहीं आर्य समाज से सम्पर्क स्थापित करते और उनके मंच से भाषण भी करते ।

## दो स्वामियों का मिलन –

ईश्वर का कुछ विचित्र विधान है, उसको समझना उतना ही कठिन है, जितना उसके द्वारा रचित सृष्टि की प्रक्रिया को । नियति जो चाहती है वही करती है, मिले हुआं को विछुड़ा देना, विछुड़े हुआं को मिला देना, असम्भव को सम्भव और सम्भव को असम्भव बना देना यही तो नियति की नियतता है । नियति ने ब्रह्मचारी जी को ऐसे महात्मा से मिलाया जो न केवल आर्य समाज के लिए ही लाभदायक सिद्ध हुए अपितु जिनके मिलने से एक ऐसा कार्य सम्पन्न हुआ, जिसके कारण आज यह लेख भी लिखा जा रहा है। वे महात्मा थे स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी । दोनों के मिलने की घटना अद्भुत है । जो संक्षेप से इस प्रकार है

एक बार स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी मथुरा से दिल्ली जा रहे थे, उस समय उनका ब्रह्मचारी नित्यानन्द जी से प्रथम बार मिलन हुआ । ब्रह्मचारी नित्यानन्द जी भी गाजियाबाद से दिल्ली जा रहे थे । संयोग बस नित्यानन्द जी उसी डिब्बे में चढ़ गए जिसमें स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी पहले से ही विराजमान थे । हो सकता है कि नित्यानन्द जी ने स्वामी जी की दिव्याकृति, सौम्यस्वभाव तथा महात्मत्व को देखकर ही उनके साथ बैठने का मन बनाया हो, जो भी हो, जैसा भी हो, दो सन्तों का यह ऐसा मिलन हुआ, जो एक ऐतिहासिक मिलन के रूप में सिद्ध हुआ।

दिल्ली पहुंचने पर दोनों एक ही भक्त के यहां ठहरे। दोनों विद्वान् थे । दोनों ही स्वामी दयानन्द जी के सिद्धान्तों से अब तक पूर्णरूप से प्रभावित हो चुके थे । स्वामी नित्यानन्द जी सत्यार्थ प्रकाश तथा स्वामी दयानन्द जी द्वारा लिखित ऋग्वेद भाष्य भूमिका आदि ग्रन्थ पढ़ चुके थे, और समझ चुके थे कि वेदों की रक्षा के लिए कोई ठोस उपाय करना पड़ेगा। दोनों जितने दिन भी वहां रहे प्रायः शास्त्रीय चर्चा ही करते रहे । दोनों का गन्तव्य तो समान था पर मन्तव्य भी समान हो गया और एक दूसरे के अत्यधिक निकट आ गए तदनन्तर दोनों में ऐसी घनिष्ठता हुई कि वह जीवन पर्यन्त बनी रही ।

इन्हीं दिनों मेरठ में आर्य समाज का वार्षिक उत्सव होने वाला था। नित्यानन्द जी को वहां से पहले तो निमन्त्रण आया बाद में व्यक्ति भी विशेष रूप से लेने आ गया । वे मेरठ जाने के लिए तैयार हो गए । स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी भी उनके साथ ही चले गए । उस समारोह में पंजाब केसरी लाला लाजपत राय जी भी आये हुए थे । नित्यानन्द जी के प्रवचनों को वहां की जनता ने इतना पसन्द किया कि उन्हें वहीं रोक लिया । ब्रह्मचारी जी जनता की इच्छा के अनुसार 15–20 दिन वहीं ठहरे। इसी बीच स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी अमृतसर चले गए, पर बाद में वे अमृतसर से लौटकर मेरठ ही आ गए। उसके बाद दोनों मेरठ से दिल्ली चले गए । अब दोनों साथ साथ रहते, शास्त्रीय चर्चा करते । चर्चा का विषय होता लोक कल्याण, आर्य संस्कृति, वेद और वेदाङ्ग । दोनों की विशेषता थी कि वे आपस में तो संस्कृत में वार्तालाप करते पर साधारण जनता के साथ हिन्दी में। स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी वक्ता कम और ज्ञानी अधिक थे ।

नित्यानन्द जी से वे अवस्था में 10 वर्ष के करीब बड़े थे अतः नित्यानन्द जी उनको बड़े भाई के समान मानते हुए उनका आदर करते थे । प्रायः दोनों इकट्ठा ही रहने का प्रयत्न करते, किसी विशेष कार्य से पृथक् पृथक् होने पर भी पत्रव्यवहार से सम्बन्ध बनाए रखते । यही कार्यक्रम दोनों का स्वामी नित्यानन्द जी के स्वर्गवास होने तक चलता रहा ।

नित्यानन्द जी की सबसे बड़ी विशेषता थी, उनका साधारण जनता, धनिकों एवम् राजा महाराजाओं के साथ समान रूप से सम्बन्ध था । राजस्थान, गुजरात, पंजाब, ग्वालियर आदि रियासतों के राजाओं से उनका बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध था । राजा महाराजा जुड़ते गए, आर्य समाज का प्रचार और प्रसार स्वतः ही बढ़ता गया । राजाओं में नित्यानन्द जी का सर्वप्रथम सिसैंडी के राजा श्रीचन्द्रशेखर से परिचय हुआ । जिस समय इनके साथ परिचय हुआ उस समय राजा साहब बिटूर में ठहरे हुए थे ।

उसके बाद स्वामी जी ने लगभग सारे उत्तर प्रदेश का भ्रमण किया । भ्रमण करते जब ब्रह्मचारी (स्वामी) जी करौली में थे, उस समय उनके साथ एक अनोखी घटना घटी । करौली का रहने वाला कोई ब्राह्मण काफी समय पहले अपनी स्त्री तथा परिवार को छोड़कर चला गया था । अचानक जब ब्रह्मचारी जी वहां प्रवचन करने लगे, तब ब्राह्मण की पत्नी तथा सम्बन्धियों को भ्रम हुआ कि यह वही ब्राह्मण सन्यासी के रूप में रह रहा है जो यहां से घर छोड़कर चला गया था । सभी उनके पास गए और घर चलने के लिए मनाने लगे । धीरे धीरे सारे करौली में यह बात फैल गई, उनको देखने के लिए खासी भीड़ इकट्ठी होने लगी । पर स्वामी जी जायें तो तब, यदि वह वही ब्राह्मण हों और वह उनका घर हो । स्वामी जी ने पूरे प्रयत्न से उन्हें समझाया पर वे तो उन्हें पक्की तौर पर घर से भागा हुआ ब्राह्मण समझ बैठे थे । जब स्वामी जी ने बात बिगड़ती देखी तब उन्होंने वहां के राजा से कहा और राजा के कहने पर राज्य की पुलिस ने उन लोगों को स्वामी जी से दूर हटाया । इस प्रकार, स्वामी जी ने अपने जीवन में भारतवर्ष का कोना कोना घूमां । सभी जगह आर्य समाज की स्थापना की, वे घूमते ही रहते थे, एक स्थान पर वे नहीं ठहरते थे ।

स्वामी जी लगभग अपनी 20-21 साल की उम्र से ही आर्य समाज के प्रसार एवम् प्रचार में जुट गए थे । उन्होंने भारत के कोने कोने में आर्य समाज की स्थापना की पर वे इतने मात्र से खुश नहीं थे । क्योंकि यह एक सामाजिक क्षेत्र था । उनका मानना था कि यह केवल मात्र ऊपर की वस्तु है । उनकी इच्छा थी कि ऐसा कोई ठोस कार्य किया जाय जिससे समाज सुदृढ़ हो । आर्य बालक सुबुद्ध हों, उन्हें अपनी परम्परा का ज्ञान हो, अपनी उस विद्या की गहराई का ज्ञान हो, जिस विद्या के कारण भारत भारत है । उनके सामने स्वामी दयानन्द जी एक ज्वलन्त उदाहरण थे, उन्होंने आर्य संस्कृति की सुदृढ़ता के लिए वेद विद्या की व्याख्या का जो एक नवीन मार्ग प्रस्तुत किया था, वे उस पर चलकर उसको अक्षुण्ण बनाये रखना चाहते थे । वे यह भी समझते थे कि आने वाली पीढ़ी के लिए वेद विद्या का समझना कठिन हो जायेगा या इसका कोई न कोई विकृतरूप सामने आ जायेगा । अतः उनके मन में सर्वदा यही विचार उठता रहता था कि एक ऐसे वैदिक कोष का निर्माण किया जाय; जिसमें चारों वेदों के पदों को अकारादि क्रम से रखा जाए और वैदिक व्याकरण के अनुसार प्रत्येक पद का अर्थ सरल संस्कृत में दिया जाय ।

भारतवर्ष, योरुप, अमेरिका और अन्य देशों के विद्वानों ने वैदिक शब्दों के जो जो अर्थ किए हैं, उन सभी का उस कोष में उल्लेख हो । भिन्न भिन्न धर्म के मानने वाले तथा भिन्न भिन्न सम्प्रदाय वालों ने जो एक एक शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ किए हैं या जहां उनमें मतभेद है, वे सभी शब्द तथा अनेक अर्थ उसी प्रकार से दिए जाय । इस विषय पर प्रायः स्वामी विश्वेश्वरानन्द और स्वामी नित्यानन्द जी में विचार विमर्श चलता रहता था । देखा जाय तो उनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य इसी प्रकार के कोष बनाने का था । यह एक बहुत बड़ा काम था । इसके लिए पर्याप्त धन तथा अत्यधिक परिश्रम की आवश्यकता थी । स्वामी जी

धन के विषय में अधिक चिन्तित नहीं थे; क्योंकि उनका राजाओं महाराजाओं से केवल मात्र परिचय ही नहीं, अपितु बड़े बड़े राजा और महाराजा स्वामी जी का अत्यधिक आदर करते थे, उनकी आज्ञा को आशीर्वाद समझते और उसकी पूर्ति करना एक प्रकार से उनका वरदान समझते, वह इसलिए कि दोनों ही स्वामी विद्वान् होने के साथ साथ नम्र, परोपकारी, निर्लिप्त, समाज सुधारक तथा उच्च कोटि के वक्ता थे ।

साधारण व्यक्ति और महापुरुषों में यही अन्तर है कि साधारण व्यक्तियों को किसी कार्य की सिद्धि के लिए अनेक कारणों को एकत्रित करना पड़ता है, पर महापुरुषों के कार्य की सिद्धि के लिए दैव कारण स्वतः उपस्थित करता है । स्वामी विश्वेश्वरानन्द तथा स्वामी नित्यानन्द जी के वैदिक कोष निर्माण के विषय में भी ऐसी ही घटना घटी ।

### विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान की स्थापना –

सन् 1903 में गर्मी के समय स्वामी नित्यानन्द जी अपना स्वास्थ्य ठीक करने के लिए अकेले ही कुल्लू में भ्रमण कर रहे थे । स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी शिमला में ही थे । इसी समय बड़ौदा के महाराजा सर सयाजीराव गायकवाड़ ने गर्मियों में कुछ दिन ठहरने के लिए कश्मीर जाने का मन बनाया, साथ ही दोनों स्वामियों को भी कश्मीर चलने का निमन्त्रण दिया । स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी रावलपिण्डी से ही उनके साथ चल पड़े और गुल्मर्ग से उन्होंने स्वामी नित्यानन्द जी को भी बुला लिया । स्वामी नित्यानन्द जी महाराजा साहब के साथ श्रीनगर चले गए पर स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी बाद में शिमला चले गए । वहीं स्वामी नित्यानन्द जी ने महाराजा से वैदिक कोष सम्बन्धी बात की । महाराजा ने वहां के पण्डितों की एक सभा बुलाई जिसमें अनेक विषयों पर विचार हुआ । इसके साथ ही स्वामी जी तथा महाराजा वैदिक कोष के निर्माण के विषय में भी परस्पर विचार विमर्श करते रहे । कुछ समय बाद स्वामी जी अपने स्थान पर चले गए । महाराजा सर सयाजीराव गायकवाड़ ने गुलमर्ग से ही अपने प्राइवेट सैक्रेटरी द्वारा 20 अगस्त, 1903 को एक पत्र स्वामी जी को लिखवाया । जिसमें उन्होंने वैदिक कोष के निर्माण की रूपरेखा तथा उस पर होने वाले व्यय के विषय में जानना चाहा ।

स्वामी जी ने उस पत्र के उत्तर में वैदिक कोष के निर्माण की रूपरेखा के साथ साथ 48,000/– रुपये खर्च का अनुमान भी लिखकर भेज दिया । उस पत्र के उत्तर में 10 सितम्बर, 1903 में महाराजा सर सयाजीराव गायकवाड़ ने 15,000/– रुपये देने का वायदा किया तथा एक साथ रुपया न दिया तो 500/– रुपये मासिक देने का वचन दिया । धन का आश्वासन मिलने पर अब वैदिक कोष निर्माण के योग्य शान्त तथा स्वच्छन्द वातावरणमय स्थान की परमावश्यकता थी । स्वामी जी पहले से ही गर्मियों में शिमला रहते थे, दोनों ही स्वामियों को शिमला रुचिकर तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से लाभप्रद भी था, किन्तु वहां ऐसा स्थान कैसे और किस से मिले, ऐसा वे सोच ही रहे थे कि उनको पटियाला तथा क्योथल के महाराजाओं की उदारता से शिमला में भूमि मिल गई । वहीं पर उन्होंने शान्तकुटी नामक स्थान भी बना लिया और उसी में वैदिक कोष का कार्य प्रारम्भ कर दिया । स्वामी जी ने वैदिक पदों की अनुक्रमणिका बनाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया । इस कार्य के लिए स्वामी नित्यानन्द जी स्वयं काशी गए और वहां उन्होंने पण्डित प्रभुदत्त जी यजुर्वेदी तथा पण्डित दामोदर शर्मा आदि को इस कार्य में लगाया । स्वामी जी ने अपनी देखरेख में काशी में पदानुक्रमणिकाओं का सम्पादन का कार्य प्रारम्भ कराया । अनुक्रमणिकाओं के सम्पादन का कार्य वाराणसी में और छपने का काम बम्बई के निर्णयसागर प्रैस में होता था । स्वामी जी स्वयं ही दोनों स्थानों पर जाकर यह कार्य देखते और साथ ही कार्य प्रगति की सूचना बड़ौदा के महाराजा तथा ईडर के नरेशों को भी भेजा करते थे ।

सन् 1907 तक चारों वेदों की पदानुक्रमणिकाओं का सम्पादन समाप्त कर लिया गया। उसके बाद वैदिक पदानुक्रम कोष का सम्पादन भी आरम्भ कर दिया गया। स्वामी जी वैदिक अनुक्रमणिकाओं के बनाने में इस तरह से जुट गए कि उनका सारा वर्ष इसी कार्य में लग गया। इस वर्ष वे आर्य समाज का प्रचार करने भी नहीं जा सके। इसके बाद कोष के सम्बन्ध में ही स्वामी जी मैसूर और इन्दौर के महाराजाओं को भी मिले। उन्होंने एतदर्थ पर्याप्तरूप से सहायता देने का वचन दिया। इन्दौर के महाराजा ने कोष निर्माण के लिए प्रतिमास 400/- रुपये पांच वर्ष तक देने का वचन दिया। साथ ही कार्य की समाप्ति न होने पर आठ वर्ष तक यह सहायता देने की भी बात कही। स्वामी जी रातदिन अथक परिश्रम करते हुए एकमात्र अब इसी कार्य में जुट गए। उन्होंने 1910 तक चारों मुख्य संहिताओं के आकारादिक्रम से चार खण्ड प्रकाशित कर दिए। इनकी कुल पृष्ठ संख्या 1000 के लगभग थी। इसके प्रकाशन होते ही बड़े बड़े विद्वानों द्वारा स्वामी जी के पास पत्र आने प्रारम्भ हो गए, जिनमें इस कार्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की गई। स्वामी जी इस दौरान शिमला में रहते थे पर कार्य कराने काशी तथा बम्बई जाते थे। उन्होंने भारत का इतना भ्रमण किया कि वे अपने स्वास्थ्य का भी ध्यान न रख सके। फलतः उनको श्वास रोग ने पकड़ लिया। स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी तथा स्वामी नित्यानन्द जी प्रायः इकट्ठे ही रहते थे। स्वामी जी के अन्तिम दिनों के पूर्व भी वे दोनों शिमला में इकट्ठे थे। 27 अक्टूबर, 1913 का दिन दोनों की जुदाई का दिन था। स्वामी नित्यानन्द जी इसी दिन अपनी अन्तिम यात्रा पर शिमला से अकेले ही चले। इस बार स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी उनके साथ नहीं थे। 23 अक्टूबर को स्वामी जी अलवर पहुंचे वहां राजस्थान प्रतिनिधि सभा की ओर से अलवर नरेश को मान पत्र भेंट किया जाना था। अलवर से स्वामी जी झांसी, आगरा, कानपुर, लखनऊ और बहराइच होते हुए इलाहाबाद पहुंचे। इन सभी स्थानों पर आर्य समाज के उत्सव हो रहे थे। स्वामी जी ने सभी में भाग लिया प्रवचन किए। इलाहाबाद से बनारस पुनः लखनऊ, आगरा, भरतपुर, बांदी कुई, जयपुर तथा अजमेर होते हुए बम्बई प्रतिनिधि सभा के अधिवेशन में भाग लेने के लिए वे 23 दिसम्बर भडोच पहुंचे। इस प्रकार शिमला छोड़े हुए पूरे दो महीने व्यतीत हो चुके थे। यद्यपि स्वामी विश्वेश्वरानन्द उनके साथ नहीं थे पर उनका परस्पर पत्र व्यवहार होता रहता था।

भडोच में उन्हें कुछ ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरा जीवन अब अधिक नहीं रहने वाला। उन्होंने वहां के प्रतिनिधि सभा के मन्त्री से कहा कि – “यह मेरी अन्तिम परिषद् है। अब मेरा जीवन अधिक नहीं चलेगा तुमने मुझसे जो कार्य लेना है वह ले लीजिए”।

भडोच में ही उन्हें बम्बई से आर्य समाज के प्रधान डा. कल्याणदास जी का निमन्त्रण प्राप्त हुआ और वे आनन्द होते हुए बम्बई के लिए चल पड़े। 30 दिसम्बर उनको श्वास का कष्ट अधिक बढ़ गया। फिर भी वह 31 दिसम्बर बम्बई में होने वाले उत्सव में भाग लेने के लिए चल पड़े। 31 दिसम्बर बम्बई पहुंच गए। 30 तारीख से ही उनको नींद आनी बन्द हो गई। अब रात दिन का समय वे बैठकर ही बिता रहे थे। सारे शरीर में उनके दर्द हो रहा था। उनका चेहरा शान्त था। जो उनसे मिलने आते उनसे वे खुलकर बातचीत नहीं कर पा रहे थे, केवल मात्र संकेत करते तथा थोड़ी हंसी से उनका सत्कार मात्र करते। यद्यपि डा. कल्याणदास जी बम्बई के इने गिने डाक्टरों में से थे फिर भी वे 6 जनवरी को वहीं के दूसरे सुप्रसिद्ध डा. राव को लेकर आए। डाक्टर राव श्वास रोग के ही विशेषज्ञ थे। उन्होंने निरीक्षण करके बताया कि स्वामी जी को डबल निमोनियां हो गया है। स्वामी जी की अस्वस्थता का समाचार सारे बम्बई में फैल गया। अब उनके पास रात दिन बड़े बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति रहने लगे। उनके लिए एक नर्स का प्रबन्ध किया गया। डा. राव के कथनानुसार उनको आक्सीजन दिया जाने लगा। 7 जनवरी तो किसी न किसी प्रकार काट ली गई; लेकिन 8 जनवरी रात को उनकी हालत कुछ अधिक बिगड़ने लगी। डा. कल्याणदास उनके पास ही थे। स्वामी जी के शरीर से बेतहाशा पसीना छूट रहा था। हाथ पैर बर्फ की तरह ठण्डे हो

रहे थे । उनको गर्मी पहुंचाने के लिए डाक्टर बराबर इन्जेक्शन दे रहे थे, पर उनका परिणाम कुछ नहीं निकल रहा था । स्वामी जी एकदम होश में थे, डाक्टर साहब के पूछने पर कहते – 'अब शान्ति है' ।

लगभग दो घण्टे तक स्वामी जी की ऐसी ही स्थिति रही तत्पश्चात् सबके देखते देखते ही वे आंखे बन्द करके चिरनिद्रा में सो गए । 8 जनवरी, 1914 को स्वामी जी की अवस्था 54 वर्ष की थी ।

9 तारीख प्रातः सर्वत्र समाचार फैल गया । 9 तारीख सांय 4.30 बजे स्वामी जी के पार्थिव शरीर को आर्य समाज में लाया गया । 5.30 के करीब उनकी चिर यात्रा प्रारम्भ हुई, रात्रि 11 बजे के करीब उनका संस्कार समाप्त हुआ ।

स्वामी जी के निधन का समाचार जब सम्पूर्ण देश में फैला तो क्या आर्य जगत् क्या विद्वान् क्या साधारण नर नारी सभी शोक सागर में डूब गए । स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी को अगाध दुःख हुआ । उनका साहस कम हो गया । उन्हें कोष की चिन्ता हो गई । एक प्रकार से कोष स्वामी जी के ही कन्धों पर टिका था । क्या होगा, कैसे होगा इसी चिन्ता में स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी डूब गए । उनके पास देश विदेशों से शोकाकुल भक्तों के तार तथा पत्र आने लगे । इधर उधर भारत वर्ष के कोने कोने में शोक सभाएँ होने लगीं। वे अमर हो गए। वह एक प्रकाशपुंज प्रकाश में समा गया और छोड़ गया शोकरूप अंधेरा । आप आनन्द धाम को प्राप्त हो गए पर स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी को कुछ समय के लिए निरानन्द कर गए। स्वामी जी का मन टूट गया । वे हताश हो गए । थोड़ी बहुत आशा की जो चिनगारी शेष थी, उसी के सहारे थोड़ा बहुत कार्य करने लगे । पर स्वामी जी थे दृढात्मा, अतः उन्होंने धैर्य धारण करते हुए कोष का कार्य आगे बढ़ाया। स्वामी नित्यानन्द जी के लिए यह श्रद्धांजलि सबसे बड़ी थी कि उनके कोष के अधूरे कार्य को पूरा किया जाय ।

स्वामी नित्यानन्द जी की यही अन्तिम इच्छा थी कि वैदिक कोष को पूर्ण किया जाये । स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी ने उनके इस कार्य को आगे बढ़ाया। उन्होंने 1923 में रा.ब. मूलराज जी तथा महात्मा हंसराज जी के परामर्श से कोष का काम लाहौर में आचार्य विश्वबन्धु जी को सौंप दिया। आचार्य विश्वबन्धु जी ने वैदिक पदानुक्रम कोष को 16 भागों में लगभग 11,000 पृष्ठों में प्रकाशित कर स्वामी जी की इच्छा पूरी की और उनको अमर कर दिया ।

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर में सितम्बर 1960 को स्वामी नित्यानन्द जी की जन्म शताब्दी बड़ी धूम धाम से मनाई और उसी दिन से 'नित्यानन्द विश्व ग्रन्थमाला' के नाम से एक नई सांस्कृतिक ग्रन्थमाला प्रारम्भ की गई तथा वैदिक कोष विभाग में स्वामी जी का नाम जोड़ दिया ।

इस प्रकार विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान स्वामी नित्यानन्द जी तथा स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी के अथक परिश्रम का ही फल है । जब तक संस्कृत और संस्कृति रहेगी तब तक दोनों का नाम अमर रहेगा ।



## आचार्य विश्वबन्धु

आचार्य विश्वबन्धु जी को उनके माता पिता का दिया हुआ नाम चमन लाल था । बालक चमन लाल का जन्म 30 सितम्बर, 1897 में सरगोधा जिला के भेरा नामक गांव में हुआ। आजकल यह स्थान पाकिस्तान में है । इनके पूज्य पिता जी का नाम राम लुभाया (दिलशाद) था । जो कश्मीर राज्य के पुलिस विभाग में नौकरी करते थे । बालक चमनलाल माता के पास ही रहते थे । इनकी माता धार्मिक वृत्ति और सरल स्वभाव की थीं । माता का प्रभाव इन पर भी पड़ा, इनकी प्रवृत्ति भी धार्मिक बनती गई । इनका बाल्यावस्था में ही भेरा में चल रहे आर्य समाज से सम्पर्क हो गया, अतः इन पर आर्य समाज का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। भेरा में एक कृपाराम ऐंग्लो संस्कृत हाई स्कूल तथा गवर्नमेण्ट हाई स्कूल भी था । बालक चमनलाल ने गवर्नमेण्ट हाई स्कूल की अपेक्षा आर्य समाज के स्कूल में पढ़ना ही उचित समझा । बालक चमनलाल अवस्था में छोटे पर बुद्धि में सबसे प्रखर थे । उसकी कुशाग्रबुद्धि की प्रायः सभी प्रशंसा करते, इसका फल यह हुआ कि उसका प्रभाव अपने सहपाठियों पर अच्छी तरह पड़ने लगा और वह छोटी सी अवस्था में ही छात्रों की श्रद्धा के पात्र बन गये । धीरे धीरे उन्होंने स्वामी दयानन्द जी के साहित्य को पढ़ लिया, और अपने साथियों को भी पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। समय मिलने पर अपने साथियों को साथ लेकर कहीं नगर से बाहर जाकर बैठते और चर्चा भी करते । धीरे धीरे चमनलाल का प्रभाव दूसरे स्कूल के छात्रों पर भी पड़ने लगा। उनके मार्ग दर्शन में गवर्नमेण्ट हाई स्कूल और आर्य समाजीय स्कूल के छात्रों ने मिल कर 'धर्म रक्षा' नामक एक सभा भी चलाई ।

### शिक्षा —

बालक चमनलाल पूरे साल आर्य समाज मन्दिर में सांयकाल के समय सत्यार्थप्रकाश की कथा सुनाया करते थे । अवस्था में छोटे, ज्ञान में बड़े चमनलाल के द्वारा जब कथा की जाती तो छोटे बड़े तथा हाई स्कूल के छात्र भी आकर कथा सुना करते थे । अभी वे पढ़ ही रहे थे कि उनकी माता का स्वर्गवास हो गया । पिताजी भेरा से दूर कश्मीर में नौकरी करते थे। इतना होने पर भी बालक चमनलाल विचलित नहीं हुए और अपने परिश्रम से 1913 में मैट्रिक परीक्षा अच्छे अंकों में उत्तीर्ण की । उस समय अच्छे छात्रों को छात्रवृत्ति मिला करती थी । बालक चमन लाल को भी छात्रवृत्ति मिली और वे पढ़ने के लिए लाहौर चले गए । उस समय लाहौर सभी तरह से अच्छा माना जाता था । वह शिक्षा तथा आर्य समाज का केन्द्र था । अब बालक चमनलाल युवक हो गये और उन्होंने वहां डी.ए.वी. कालेज में इण्टर कक्षा में प्रवेश लिया, संस्कृत, फिजिक्स तथा कैमिस्ट्री जैसे विषयों को पढ़ाई के लिए चुना ।

इण्टरमीडिएट उत्तीर्ण करने के बाद उन्होंने बी.ए. में विज्ञान विषयों को छोड़कर आर्ट्स ले लिया। साथ में संस्कृत विषय भी रखा। युवक चमन लाल अपनी दिनचर्या के अनुसार कार्य करते, कालेज जाते, अच्छे छात्रों के साथ सम्पर्क बनाये रखते, नित्यप्रति आर्य समाज मन्दिर भी जाया करते ।

इसी समय महात्मा हंसराज जी भी शिक्षा विभाग से मुक्त हुए थे। महात्मा हंसराज जी डी.ए.वी. कालेज के प्रिंसिपल थे। पर जब तक युवक चमन लाल जी बी.ए. में पहुंचे, तब तक महात्मा हंसराज कालेज के प्रिंसिपल पद से मुक्त हो कर डी.ए.वी. कालेज प्रबन्धकर्त्री सभा के प्रधान बन गए थे । अब महात्मा हंसराज जी के पास प्रशासन का उतना भार नहीं था जितना प्रिंसिपल के समय, अब वे छात्रों से मिलते जुलते, उनके साथ आर्य समाज की बातें करते, नियमित रूप से अनारकली के आर्य समाज और छात्रावास में

छात्रों द्वारा संचालित आर्य युवक समाज के साप्ताहिक सत्संगों में जाया करते । वे कालेज के अच्छे छात्रों की खोज में रहते, जो छात्र उन्हें वैदिक, धार्मिक तथा सामाजिक तौर पर अच्छा लगता उसमें और भी आर्य समाज की भावना भरते । ऐसी स्थिति में युवक चमनलाल भी उनकी दृष्टि से कैसे ओझल रह सकते थे । साथ ही स्वयं युवक चमनलाल भी उनके प्रभाव से प्रभावित हुए बिना कैसे रहते ।

युवक चमनलाल से न केवल जूनियर विद्यार्थी ही प्रभावित होते थे अपितु उनके प्रतिभाशाली व्यक्तित्व, बुद्धिकौशल, ज्ञानराशि तथा आर्य समाज के प्रति गहरी पैठ के कारण सीनियर विद्यार्थी भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते थे । उनके प्रति उनसे बड़े विद्यार्थियों का भी बड़ा आदर भाव था । उनको छात्रावास में भी बड़े आदर से देखा जाता था ।

आचार्य जी ने इण्टर परीक्षा उत्तीर्ण करके बी.ए. में प्रवेश लिया । बी.ए. में भी आपने छात्रवृत्ति प्राप्त की अच्छे अंक ले कर बी.ए. परीक्षा उत्तीर्ण की । एम.ए. में आपने अपना प्रिय विषय संस्कृत ही चुना । उस समय पंजाब विश्वविद्यालय (लाहौर) के ओरियण्टल कालेज के प्रिंसिपल डा. ए.सी. वुल्नर थे । वे आचार्य विश्वबन्धु जी के वैदुष्य तथा रुचिपूर्ण अध्ययन से अच्छे प्रभावित थे । विश्वबन्धु जी अपनी प्रतिभा के कारण डा. वुल्नर के अति प्रिय छात्र हो गए । आचार्य विश्वबन्धु ने 1919 में एम.ए. संस्कृत परीक्षा सबसे अधिक अंक लेकर उत्तीर्ण की । इतने अंक प्राप्त किए कि पिछले सभी रिकार्ड तोड़ दिए । डा. वुल्नर आचार्य जी से इतने प्रसन्न तथा प्रभावित हुए कि उन्होंने स्टेट स्कालरशिप (सरकारी छात्रवृत्ति) के लिए विश्वबन्धु जी के नाम की संस्तुति की । आचार्य जी को वह विशिष्ट छात्रवृत्ति दे दी गई । वह छात्रवृत्ति 300/-रुपये मासिक की थी । यह तीन सौ रुपयों की छात्रवृत्ति उस समय के छात्रों के लिए एक विशिष्ट सम्मान था । चार साल तक विलायत में यह छात्रवृत्ति मिलनी थी । विश्वबन्धु जी को इस प्रकार की विशिष्ट छात्रवृत्ति के प्राप्त होने से कोई प्रसन्नता नहीं हुई और उन्होंने एक क्षण में ही ऐसी छात्रवृत्ति को लेने से नम्रतापूर्वक मना कर दिया ।

उन्होंने डा. वुल्नर का बड़े विनम्र भाव से धन्यवाद करते हुए कहा कि मैं अपने जीवन के गुरु महात्मा हंसराज जी की अनुमति प्राप्त कर ही इस आदरमयी छात्रवृत्ति को ग्रहण कर सकता हूँ । महात्मा हंसराज जी आचार्य विश्वबन्धु का भाव समझ गए और उन्होंने भी उनके द्वारा छात्रवृत्ति ग्रहण न करने की भावना की सराहना की । आप विलायत तो नहीं गए पर उन्होंने 1920 में पंजाब विश्वविद्यालय से शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की । उस परीक्षा में भी आप सर्वप्रथम रहे ।

उस समय महात्मा हंसराज जी डी.ए.वी. कालेज के लिए एक इस प्रकार के प्राध्यापकों का मण्डल तैयार कर रहे थे जो साधारण जीवन निर्वाह पर आजीवन सदस्य बन जाये । चुने हुए इन युवकों को 25 वर्ष तक कालेज में पढ़ाने का व्रत लेना पड़ता था ।

### **चमनलाल से विश्वबन्धु —**

महात्मा हंसराज जी ने विश्वबन्धु जी को भी आजीवन सदस्य के रूप में चुन लिया । आचार्य विश्वबन्धु ने डी.ए.वी. कालेज की आजीवन सदस्यता स्वीकार करने से पूर्व महात्मा जी के सामने विनम्र भाव से कहा था कि मैं कालेज की आजीवन सदस्यता कालेज में पढ़ाने के लिए नहीं अपितु पंजाब विश्वविद्यालय से चलाये जाने वाली शास्त्री आदि श्रेणियों के स्थान पर अपनी ही परीक्षाओं को प्रारम्भ करने के लिए ले रहा हूँ । युवक चमन लाल का यह एक साहसिक कदम था । इससे पहले शास्त्री आदि की संस्कृत श्रेणियां डी.ए.वी. कालेज के कुछ दूरी पर चलती थीं । युवक चमन लाल ने उसी स्थान पर डी.ए.वी. कालेज प्रबन्धकर्त्री सभा के तत्त्वाधान में विशारद, शास्त्री के स्थान पर स्वतन्त्र रूप से विद्यावाचस्पति इत्यादि उपाधि

दिए जाने वाली श्रेणियों को चलाने की प्रतिज्ञा की, इस प्रतिज्ञा के साथ ही भीष्म पितामह के समान आजीवन ब्रह्मचारी रहने की भी प्रतिज्ञा की। सभी को यह बहुत अच्छा लगा और युवक चमन लाल की बात मान ली गई। यह बात 1921 वैसाखी के शुभ दिन की है। उसी दिन से चमन लाल ने अपना नाम विश्वबन्धु रख लिया। उसी दिन से नवीन परिपाटी के आधार पर श्रेणियां चलाने के लिए 'दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय' नामक संस्था को प्रारम्भ कर दिया गया। विश्वबन्धु उसके प्रथम आचार्य बने।

### वैदिक पदानुक्रम कोष –

जब वैदिक भाषा संस्कृत भाषा से इतनी दूर हो गई है कि वैदिक भाषा का समझना कठिन हो गया तब कुछ विद्वानों का इस ओर ध्यान गया, उन्होंने जितनी उस समय आवश्यकता थी उसके अनुसार उसको समझाने के लिए प्रयत्न किया, उपाय निकाले तथा उन कठिन शब्दों की सूचियां तैयार की जिनके अर्थ समझना कठिन हो रहा था। इस दिशा में यास्काचार्य जैसे विद्वानों ने समयानुसार शब्द सूचियां बनाकर व्युत्पत्ति द्वारा शब्दों के अर्थ जानने के नियमों को बताया तथा शब्दों के अर्थ करने का प्रयत्न भी किया। उन्होंने केवल मात्र उतने ही शब्दों के अर्थों को बताया जिसके विषय में उनको ऐसा प्रतीत हो रहा था कि इन शब्दों के अर्थ बताने आवश्यक हैं। बाद में विद्वानों ने और भी भाष्य लिखे उन पर अपने मत व्यक्त किए पर वे न जाने किन कारणों से बीच में ही लुप्त हो गए। कतिपय भाष्य ही शेष बचे। उनमें सायण का भाष्य प्रमुख है।

सायण के समय में ही स्वामी दयानन्द ने अनुभव किया था कि यदि वेदों के सही भाष्य न किए गए तो, वेद वाक्य गलत व्यक्तियों के हाथों पड़ जायेंगे और वे मनमाने ढंग से इनका अर्थ करके न केवल भाषा का ही सत्यानाश करेंगे अपितु अर्थ का अनर्थ करके आर्य संस्कृति के मूल पर भी कुठाराघात करके उसका मूलोच्छेद कर देंगे। ऐसी स्थिति में स्वामी जी ने वेदार्थ करने की एक नवीन पद्धति अपनाई। उस पद्धति से प्रभावित हुए दो सन्त जिनका नाम था ब्रह्मचारी नित्यानन्द तथा स्वामी विश्वेश्वरानन्द। दैवयोग ही समझिए कि एक बार ये दोनों गाजियाबाद से दिल्ली जा रहे थे, गाजियाबाद स्टेशन पर दिल्ली जाने वाले डिब्बे में दोनों इकट्ठे हो गए।

उस दिन से वे दोनों एक दूसरे के इतने समीप आ गए कि जीवन भर कभी उन्होंने एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ा। दोनों इतने विद्वान् थे कि संस्कृत में ही बातें करते। स्वामी नित्यानन्द जी स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी से 10 वर्ष छोटे थे इसलिए उनको बड़े भाई के समान समझते। दोनों की बड़े बड़े राजा-महाराजाओं से जान पहचान थी। उस जान पहचान का लाभ कैसे उठाया जाये उस दिशा में जब दोनों ने विचार किया तो सोचा कि स्वामी दयानन्द जी की पद्धति को आधार मानकर एक ऐसे वैदिक कोष का निर्माण किया जाये जो सभी प्रकार से वैदिक शब्दों का वास्तविक अर्थ बताये। कोष का कार्य तो धन के बिना चलना सम्भव न था। दोनों इसी विचार-मन्थन में डूबे रहते थे। दैवयोग से एक बार बड़ौदा के महाराजा सर सयाजीराव गायकवाड़ कश्मीर गए दोनों स्वामी भी महाराजा के साथ गए। वहां इन्होंने अपना मन्तव्य महाराजा के सामने रखा। महाराजा गायकवाड़ ने धन के विषय में दोनों स्वामियों को आश्वासन ही नहीं दिया अपितु पूर्ण सहयोग देना प्रारम्भ कर दिया। उसके बाद इस कार्य के सम्पादन के लिए जिस प्रकार के शान्त वातावरण की आवश्यकता थी वह भी उनको क्योथल तथा पटियाला के महाराजाओं की उदारता से शिमला में मिल गई। दोनों ने शान्तकुटी नाम से उसी स्थान में 1903 में चारों वेदों की अनुक्रमणियां बनाने का निर्णय किया। स्वामी नित्यानन्द जी तथा स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी ने शिमला में रहते हुए ही बनारस में वहां के विद्वानों द्वारा चारों वेदों की अकारादिक्रम से पदसूचियां बनानी प्रारम्भ कर दीं। 1907 तक पदानुक्रमणियां तैयार हो गईं। उनको छपवाने का कार्य निर्णयसागर प्रैस, बम्बई में प्रारम्भ हो गया। 1910

तक पदानुक्रमणियां छप गईं। कोष का कार्य प्रारम्भ ही हुआ था कि दुर्भाग्य से सन् 1914 में स्वामी नित्यानन्द जी स्वर्ग सिंघार गए। उस समय उनकी अवस्था केवल मात्र 54 वर्ष की थी। कारण था उनका श्वास रोग। अब स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी अकेले रह गए। स्वामी नित्यानन्द जी के समय में तो वे केवल मात्र धन एकत्र करने में ही लगे रहते थे। अब उनके ऊपर कोष का कार्यभार भी आ पड़ा। इस दिशा में उनको स्वामी नित्यानन्द जी के दिवंगत हो जाने से बड़ा आघात लगा। उनकी अवस्था भी 64 वर्ष के करीब हो गई थी। उन्होंने साहसपूर्वक कार्य करना प्रारम्भ किया। विद्वान् ढूँढे। पर जिस प्रकार के विद्वानों की इस कार्य के लिए आवश्यकता थी, वैसे विद्वान् उनको मिले नहीं। स्वामी जी होल्कर दरबार के आग्रह पर इन्दौर भी गए, वहां भी उनकी बात न बनी और वे वापिस शिमला आ गए। स्वामी जी इस विषय में उपाय सोच ही रहे थे कि प्रभु की कृपा समझिए या विधि का विधान, उन्हीं दिनों राय बहादुर मूलराज जी सेवा मुक्त हुए और वे गर्मी के मौसम में अपने पुत्र डा. केदारनाथ जी के पास शिमला गए। वहां स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी से उनकी मुलाकात हुई। रा.ब. मूलराज जी स्वामी जी के पहले से ही परिचित थे। स्वामी जी ने अपनी चिन्ता रा.ब. मूलराज जी के सामने रखी। राय बहादुर साहब ने स्वामी जी की बात समझी, साथ ही यह भी समझा कि स्वामी जी जिस प्रकार से इस कार्य को कर रहे हैं उस कार्य की यह प्रक्रिया नहीं। उन्होंने स्वामी जी को लाहौर आने का परामर्श दिया क्योंकि उस समय लाहौर आर्य समाज का तो गढ़ था ही साथ ही पंजाब विश्वविद्यालय में प्राच्य विभाग होने से वह शिक्षा का भी एक केन्द्र बन गया था। स्वामी जी सर्दियों में लाहौर आए और कई महीने वहां रहे। राय बहादुर मूलराज जी ने स्वामी जी को महात्मा हंसराज जी से मिलाया। महात्मा हंसराज जी को उस समय के मेधावी छात्रों तथा संस्कृत एवं अंग्रेजी दोनों भाषाओं के विद्वानों का पता था। इस कार्य को वही विद्वान् अच्छी प्रकार कर सकता था जिसका अंग्रेजी भाषा पर अधिकार तथा प्राच्य विद्या संस्कृत में गहरी पैठ हो। महात्मा हंसराज जी को और तो कोई विद्वान् नजर नहीं आया पर आचार्य विश्वबन्धु पर उनकी नजर टिक गई। उस समय आचार्य विश्वबन्धु जी दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय के आचार्य थे। स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी रा.ब. मूलराज जी तथा महात्मा हंसराज जी के साथ आचार्य विश्वबन्धु जी से मिले। आचार्य विश्वबन्धु जी के सामने वैदिक कोष निर्माण की समस्या रखी। आचार्य विश्वबन्धु जी ने ब्राह्म महाविद्यालय के कार्य के साथ-साथ कोष बनाने के कार्यभार को भी स्वीकार कर लिया। जनवरी, 1924 से कोष का कार्यभार आचार्य विश्वबन्धु जी को सौंप दिया गया।

आचार्य जी ने कोष के कार्य को देखा, समझा तथा उसकी पुनः रूपरेखा तैयार की। 6 महीने बाद गर्मियों में आचार्य जी अपनी रूपरेखा को लेकर शिमला गए। उस समय वहां महामना मालवीय जी भी स्वामी जी के पास शान्तकुटी में ठहरे हुए थे। आचार्य जी ने वैदिक कोष की रूपरेखा रा.ब. मूलराज जी, स्वामी जी तथा महामना मालवीय जी के सामने रखी। रूपरेखा सभी को अच्छी लगी। महामना मालवीय जी तो उस रूपरेखा को देख कर तथा आचार्य जी के वैदुष्य से बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने सोचा कि यह इतनी छोटी उम्र में इस प्रकार के कार्य को करने को तैयार है और यह रूपरेखा इनके वैदुष्य को प्रकट कर रही है। अगर इनको हिन्दू विश्वविद्यालय में ले जाया जाय तो इनके कार्य की सराहना तो होगी ही विश्वविद्यालय को भी एक रत्न मिल जायेगा। मालवीय जी ने आचार्य जी से हिन्दू विश्वविद्यालय में आने का निमन्त्रण दिया; साथ ही इस कार्य के लिये पृथक् रूप से चलाने के लिए विश्वविद्यालय में 20 लाख रुपये की राशि को निश्चित करने को भी कहा। किन्तु आचार्य विश्वबन्धु जी स्वामी जी को वचन दे चुके थे अतः नम्रतापूर्वक महामना मालवीय जी के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया तथा ब्राह्म महाविद्यालय लाहौर में रहकर ही इस कार्य को करने का निश्चय किया। महामना मालवीय जी आचार्य जी की इस त्याग भावना से बहुत ही प्रभावित हुए। उस समय आचार्य जी की अवस्था केवल मात्र 27 वर्ष की थी।

1924 में मथुरा में स्वामी दयानन्द जी की जन्म शताब्दी मनाने का निश्चय किया गया। सभी आर्य-दल वहां पहुंचे। आचार्य विश्वबन्धु जी भी लाहौर से अपने अध्यापकों एवं ब्रह्मचारी शिष्यों के मण्डल को लेकर उसमें सम्मिलित हुए। छात्रों ने वहां अपने वैदुष्य का परिचय दिया, जो कुछ आचार्य जी के सान्निध्य में रह कर लाहौर ब्राह्म महाविद्यालय में सीखा उसको मानों वहां जाकर प्रकट कर दिया जिसका उपस्थित जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा, आचार्य विश्वबन्धु की बड़ी सराहना हुई। उनके विचारों को तो लोगों ने सुना ही उनके द्वारा लिखित वेद सन्देश को भी खूब पसन्द किया और उसको रखने का मन बनाकर लगभग सभी ने उसको खरीदा।

1924 में वैदिक कोष का कार्य स्वीकार करने के बाद आचार्य जी की वेदाध्ययन के प्रति और भी रुचि बढ़ गई। आपने बड़ी गम्भीरता से उस समय तक प्राप्त सभी वेद-भाष्यों का अध्ययन किया। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किए गए वेदमन्त्रों के अर्थों को पढ़ा, सायण, माधव, वेंकट, स्वामी दयानन्द इत्यादि के भाष्यों का अध्ययन किया और पाया कि कुछ एक भाष्यकारों ने वेदार्थ करने में संकीर्णता एवं कट्टरता को अपनाया है। उन्होंने देखा कि न केवल कुछ एक भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने ही ऐसा किया है अपितु आर्य समाज के क्षेत्र में ऐसा ही कुछ हुआ है। आचार्य जी ने एक लेख तैयार किया, जिसमें सन्देहयुक्त मन्त्रों के अर्थ पर विचार करने के लिए आर्यसमाजी पण्डितों की सभा के संघटन की भी बात कही। इस लेख की लगभग दो सौ कापियां छपवाकर आचार्य जी ने वैदिक विद्वानों तथा आर्यसमाजी विद्वानों के पास उनके विचारों को जानने के लिए भेजा। पर उस की ओर किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया। आचार्य जी ने यह लेख अपने निज मित्र के पास भी भेजा था, वे गुरुकुल में प्राध्यापक थे, पर उन्होंने भी इस का कोई उत्तर नहीं दिया। आचार्य जी उनसे मिले, पत्रक का उत्तर न देने का कारण जानना चाहा, पहले तो विद्वान् मित्र कुछ न बोले, पर बहुत आग्रह करने पर उन्होंने कहा कि तुम्हारी बात तो ठीक है पर हमें तो अपने परिवार को पालना है, अतः तुम्हारा समर्थन करना कठिन है।

आचार्य जी प्रायः गर्मियों में शिमला में शान्तकुटी में ठहरा करते थे। एक बार आप श्रीदेवदत्त शास्त्री जी के साथ शान्तकुटी में ठहरे हुए थे। उन्हीं दिनों शिमला में आर्य समाज का वार्षिक उत्सव आया। आचार्य जी को भी निमन्त्रण आया। आचार्य जी श्रीदेवदत्त शास्त्री के साथ सभा में गए। उस समय तेजतराक किसी युवक का भाषण हो रहा था। भाषण करते करते वह बीच में आचार्य जी के लेख के विषय में यहां तक कह गया कि यदि इस पत्रक का लेखक यहां होता तो मैं उसका न जाने क्या कर देता। आचार्य जी ने सुना और शान्त भाव से सभा समाप्ति के बाद खड़े होकर केवल मात्र इतना ही कहा कि “उस पत्रक के विषय में यहां कुछ कहना उचित नहीं है। जो कहना हो वह विद्वत्-सभा में ही कहा जाना चाहिए।”

अनारकली लाहौर में जो आर्य समाज मन्दिर था उसमें नगर तथा डी.ए.वी. कालेज के विद्वान् लोग सभासद थे। वे सत्संगों तथा समारोहों में आते थे। वे बहुत पहले से ही आचार्य जी के प्रवचन सुना करते थे, उनकी आचार्य जी के प्रति अपार श्रद्धा थी, सहानुभूति थी उनकी नजरों में आचार्य जी एक दिव्य विभूति थे, पर कुछ एक इसके विपरीत थे। इस प्रकार का मतभेद कुछ समय तक चलता रहा। 1933 दिसम्बर को लाहौर में आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा से सम्बन्धित आर्यसमाजियों के प्रतिनिधियों की एक सभा बुलाई गई जिसकी अध्यक्षता महात्मा हंसराज जी ने की। उस समय आचार्य विश्वबन्धु जी अनारकली आर्य समाज लाहौर के प्रधान थे। उस सभा में आचार्य जी भी उपस्थित थे। विचार विमर्श हुआ। आचार्य जी ने महात्मा हंसराज जी के प्रति अपनी श्रद्धा का परिचय दिया और आर्य समाज में उठा हुआ विवाद समाप्त हो गया। अब आचार्य जी ने ब्राह्म महाविद्यालय के आचार्यत्व से त्याग पत्र दे दिया। आचार्य ऋषि राम जी को ब्राह्म महाविद्यालय का आचार्य बनाया गया।

1934 के प्रारम्भ में ही आचार्य विश्वबन्धु जी को डी.ए.वी. कालेज की लाल चन्द लाइब्रेरी में जो अनुसन्धान विभाग का कार्य चल रहा था उसका संचालक बना दिया और वैदिक कोष का कार्य भी इसी विभाग में स्थानान्तरित कर दिया ।

सन् 1934 जून मास में जापान में 'अखिल विश्व बौद्ध सम्मेलन' हुआ । आचार्य जी उसमें भारतीय धर्म के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित होने के लिए 8 जून, 1934 को लाहौर से चल पड़े । पूरे 6 महीने भ्रमण करते हुए 8 जनवरी, 1935 को लाहौर लौट आए। आचार्य जी ने उस यात्रा की प्रत्येक दिन की चर्या डायरी के रूप में स्वयं अपने हाथ से लिखी है। यह डायरी संस्थान से छप चुकी है ।

सन् 1935 तथा 1936 में आचार्य जी ने वैदिक कोष के निर्माण हेतु सर्वप्रथम ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों की पदानुक्रमणियां तैयार की, जो दो खण्डों में लगभग 1250 पृष्ठों में छपीं। जैसे जैसे अनुसन्धान का कार्य बढ़ता गया उसकी आवश्यकताएं भी बढ़ती गईं । उनमें सबसे बड़ी आवश्यकता थी अपने प्रैस की । आचार्य जी ने 1936 में संस्थान का अपना प्रैस भी लगा दिया । सन् 1946-47 तक लाहौर में अनुसन्धान का कार्य बड़े जोर से चलता रहा किन्तु दुर्भाग्य से इसी समय कुछ विपरीत परिस्थितियों के कारण भारत तथा पाक के विभाजन की शंका उत्पन्न हो गई ।

### दृढ़ धारणा -

वैदिक पदानुक्रम कोष के तीन खण्ड प्रकाशित किए जा चुके थे। आगे का कार्य चल ही रहा था कि ऐसे समय में चारों ओर जब मृत्यु का ताण्डव नृत्य होने लगा तो उस समय आचार्य विश्वबन्धु अपने कुछ सहायकों के साथ प्रलयकालीन उस जनसंहार की लीला देखते हुए भी हिमालय के समान दृढ़ हो कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित तथा अप्रकाशित सामग्री एवं लालचन्द लाइब्रेरी में रखे हुए प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ एवं सन्दर्भ पुस्तकों की देखरेख में डटे रहे। विभाजन होते ही लाहौर जैसा शिक्षा का केन्द्र पाकिस्तान में चला गया। अब आचार्य जी के सामने उस समूची सामग्री को भारत पहुंचाने की समस्या उत्पन्न हुई जो डी.ए.वी. कालेज में अब तक सुरक्षित थी । यह एक ऐसी समस्या थी जिसका कोई हल नहीं निकल रहा था। आचार्य विश्वबन्धु जी के लिए उस समय जिन्दगी और मृत्यु का प्रश्न उपस्थित था । लाहौर के हालात इतने बिगड़ गए कि 15 अगस्त को संस्थान पूर्ण रूप से बन्द कर दिया गया । आचार्य विश्वबन्धु जी इतनी भयंकर परिस्थितियों में भी 6 मास तक अपने सहयोगियों के साथ शरणार्थियों की सेवा करते रहे । वहीं बैठकर आचार्य जी ने संस्थान की अमूल्य सामग्री को एकत्रित किया, सम्पूर्ण सामग्री को बोरों में बांधा। यह कुल सामग्री लगभग 4000 मन थी। जो चार हजार बोरों में बांधी गई । अब समस्या उन बोरों को भारत भेजने की थी । पाकिस्तान सरकार से प्रार्थना की गई, उस प्रार्थना का विपरीत ही असर हुआ और पाकिस्तान सरकार ने उस सामग्री पर यह कह कर प्रतिबन्ध लगा दिया कि अब यह सम्पूर्ण सामग्री पाकिस्तान सरकार की है ।

सामग्री को भारत लाने पर प्रतिबन्ध लगने पर भी आचार्य जी घबराये नहीं । उन्होंने अपनी बुद्धि वैभव से किसी न किसी प्रकार उन (4000) चार हजार बोरों को भारत भूमि पर भिजवा दिया । यद्यपि उस समय संस्थान को वित्तीय दृष्टि से बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ी किन्तु आचार्य जी को उसका उतना दुःख नहीं हुआ जितनी प्रसन्नता सम्पूर्ण शोध सामग्री तथा उससे सम्बन्धित ग्रन्थों को भारत भेजने से हुई ।

आचार्य जी भारत पहुंचे, संस्थान को पुनः स्थापित करने के लिए स्थान ढूंढा, कहीं नहीं मिला। दिल्ली, बम्बई इत्यादि नगरों में विद्यमान गणमान्य व्यक्तियों ने आचार्य जी से संस्थान को उन-उन स्थानों पर पुनः स्थापित करने की प्रार्थना की किन्तु आचार्य जी ने बड़े विनम्र भाव से उसे अस्वीकृत करते हुए वेदों

की धरती पंजाब में ही किसी स्थान में संस्थान को स्थापित करने की बात कही। आचार्य जी शान्त वातावरण में कहीं भूमि ढूँढ ही रहे थे कि बजवाड़ा निवासी सेठ धनीराम भल्ला जी ने अपने पैतृक गाँव बजवाड़ा के पास साधु-आश्रम नाम के स्थान के विषय में कहा। श्री भल्ला जी ने अपने पिताश्री के लिए यह स्थान हरे भरे खेतों के बीच शिवालिक पहाड़ियों की तलहटियों में बनाया हुआ था। आचार्य जी स्थान देखने गए, उनको स्थान भाया और उन्होंने भल्ला जी को स्वीकृति दे दी।

लाहौर से आने के बाद धीरे धीरे कार्य पुनः चलने लगा। 1947 से 1949 तक संस्थान को पुनः स्थापित करने में आचार्य जी के सामने कई एक कठिनाइयाँ आईं पर इन कठिनाइयों को हल करने में माननीय गोपीचन्द भार्गव तथा महाराजा पटियाला जैसे उदार तथा संस्कृत के प्रति अनुराग रखने वाले दानी महानुभावों के सहयोग से संस्थान पुनः स्थापित हो गया।

धीरे धीरे संस्थान का कार्य बढ़ता गया। शान्तकुटी शिमला में जिस ग्रन्थ का प्रारम्भ किया गया था तथा सन् 1935 से जिस ग्रन्थ के निर्माण में आचार्य जी कठोर परिश्रम किया करते थे वह 'वैदिक पदानुक्रम कोष' 1965 में पूर्णरूप से प्रकाशित हो गया। आचार्य जी के जीवन का यह एक महान् कार्य था। इसकी तैयारी में आचार्य जी ने लगभग 30 वर्ष कठोर परिश्रम किया था। उनका क्या परिवार, क्या धन सम्पत्ति सभी कुछ यह कोष ही था। इस महाकोष में 500 वैदिक ग्रन्थों में पढ़े गए सभी शब्दों को जिनकी संख्या एक लाख पच्चीस हजार है से भी अधिक है, अकारादिक्रम में रखा गया है। यह केवल पदों का संग्रह मात्र नहीं है अपितु उनके साथ ग्रन्थों के पूर्ण संकेत भी हैं। साथ में आवश्यकतानुसार स्वर, निर्वचन, व्याकरण, छन्द तथा पाठमीमांसा सम्बन्धी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ भी दी गई हैं। यह महान् ग्रन्थ पांच खण्डों एवं सोलह भागों में विभक्त 11000 पृष्ठों में प्रकाशित है। वैदिक वाङ्मय के अनुसन्धान के लिए यह आवश्यक ग्रन्थ है। आचार्य जी ने इसको इतने परिश्रम से तैयार किया कि उनके वैदुष्य से प्रभावित होकर पाश्चात्य विद्वान् इसको 'विश्वबन्धु कोष' नाम से पुकारते हैं। इसके अतिरिक्त उपनिषदोद्धारकोष तथा ब्राह्मणोद्धारकोष भी वैदिक साहित्य को आचार्य जी की अनुपम देन है।

आचार्य जी का अपना एक और प्रिय विषय था, वह था 'शब्दों के अर्थनिर्वचन' वेद के शब्दों की अन्य भारोपीय परिवार के साथ तुलना करते हुए उनका विश्लेषण करना। वे प्रत्येक शब्द को एकाक्षरी धातु रूप मानते हुए उसके अनुसन्धान में लगे रहते थे। इसी दिशा में आचार्य जी ने लगभग डेढ़ लाख शब्दों को पर्चियों में लिख कर रखा हुआ है। वे प्रति पल शब्दों के विषय में विचार करते रहते थे। वे अपने पास एक नोट बुक रखते, जब भी कोई शब्द सम्बन्धी विचार मन में आता उसको उसमें अंकित करते थे। भ्रमण के समय विद्वानों से भी शब्दों का निर्वचन कराते थे। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे, संस्कृत, अंग्रेजी, पंजाबी तथा हिन्दी सभी भाषाओं पर उनका पूर्ण अधिकार था। सभी भाषाओं में वे अपने विचार अबाधगति से प्रकट करते थे। छात्रों को पढ़ाने में उनकी बहुत रुचि थी पर वे छात्रों को केवल शब्दार्थ पढ़ाने के पक्षपाती नहीं थे अपितु शब्द की गहराई तक उन्हें पहुँचाते थे। यहां तक कि वेद या उपनिषदों के एक ही मन्त्र को 15-20 दिन तक पढ़ाते थे।

वे जहां वेदों के भाष्य करने में अपनी रुचि रखते थे वहीं साधारण व्यक्तियों के लिए उन्होंने आर्य दर्पण, वेदसार, सत्संगसार, महाभारत के कृष्ण, वैदिक संकल्प सन्ध्या, प्रभु का प्यारा कौन इत्यादि पुस्तकों को बड़ी सरल भाषा में लिखा और संस्थान से प्रकाशित कराया। आचार्य जी द्वारा सम्पादित, लिखित ग्रन्थों की संख्या लगभग 600 है।

आचार्य जी के जीवन का एक ही लक्ष्य था, संस्थान के कार्यों की वृद्धि। उनके लिए सब कुछ संस्थान ही था। संस्थान से ऊपर उनके लिए कुछ नहीं था। अनुसन्धान कार्य के अतिरिक्त वे संस्थान

के अन्य कार्यों में भी पूर्ण रुचि लेते । प्रतिमास 'सरस्वती समाज' की बैठक कराकर उसमें विद्वानों के साथ शास्त्रीय चर्चा करते । अवकाश के दिन भ्रमण करते हुए कर्मिष्ठों से छोटी मोटी बातें करते, उनका दुःख जानते तथा समय आने पर उनके दुःख सुख में भी भागीदार बनते ।

सारे जीवन तप और त्यागपूर्वक सारस्वत कार्य करते हुए आपने केवल भारत में ही नहीं विदेशों में भी ख्याति प्राप्त की। आपके वैदुष्य से प्रभावित होकर 1949 में इटली सरकार ने, तथा 1950 में फ्रांस की सरकार ने आपको अपने विश्वविद्यालय की एवं राजकीय सर्वश्रेष्ठ उपाधियों से अलंकृत किया । 1965 में कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय ने आपको डी.लिट्. की उपाधि प्रदान की । 1968 में भारत के महामहिम राष्ट्रपति ने आपको पद्मभूषण उपाधि से विभूषित किया । उसी वर्ष एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई ने आपको डी.पी.वी. काणे स्मारक स्वर्ण पदक प्रदान किया ।

आपके विषय में आपके शिष्य डा. त्रिलोचन सिंह बिन्द्रा लिखते हैं कि—“अपने लिए आचार्य जी में, लालसा नाम मात्र को भी नहीं थी। वे जो भी चाहते थे, केवल संस्थान के लिए। आपके भक्तों द्वारा एक बार उनसे, उनके अभिनन्दनग्रन्थ के सम्बन्ध में चर्चा की गई तो उन्होंने तुरन्त रोक दिया — 'जो रुपया इस आयोजन पर व्यय करना है, उसको संस्थान के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए व्यय करना बेहतर होगा।' सादापन और त्याग तो उनमें इतना था कि जिस कमरे में वे रहते थे, उस में ईंटों का फर्श था। तीन कुर्सियां बिना गदियों के थीं, एक तख्तपोश था जिस पर पतली-सी दरी होती थी । सामान के लिए उनके पास एक छोटा-सा टीन का ट्रंक होता था । अपने हाथ से आचार्य जी अपने फटे कपड़ों को सूई-धागे द्वारा सी लेते थे । आचार्य जी इतने विनोद प्रिय थे कि वे कभी-कभी भाषण में अपने साथियों से मजाक में कहते थे — 'मैं पठान हूं। मेरे से चाहो तो पंजा लड़ा के देख लो। मैं सत्तर वर्ष का युवक हूं' वैसे तो वे सदा ही सब का भला चाहते थे। पर, फिर भी उनकी यह आन्तरिक इच्छा रहती थी कि उनके संस्थान के कार्यकर्ता भी उनके समान ही परिश्रम से त्यागपूर्वक काम करें।

1973 के मास से आप कुछ अस्वस्थ रहने लगे। डाक्टरों के परामर्श से आपको पहले होशियारपुर हस्पताल में दाखिल कराया गया। बाद में पी.जी.आई. चण्डीगढ़। बिमारी की अवस्था में भी आप स्वभावतः जो कोई प्राध्यापक आपसे मिलने जाता उससे शब्दों की व्युत्पत्ति इत्यादि करते रहते थे। आप मानसिक रूप से अन्तिम समय तक स्वस्थ रहे, केवल शारीरिक रूप से ही रुग्ण रहे।

इस प्रकार निरन्तर सारस्वत सेवा में निरत हुए आचार्य जी पहली अगस्त, 1973 तक अपना सम्पूर्ण कार्य करके स्वर्ग सिधार गए ।



## प्रो. लुडविक स्टर्नबाख

कभी कभी धरती पर ऐसे व्यक्ति जन्म लेते हैं, जो संसार में आकर भी उस मायावी की माया से भ्रमित न होकर सतत अपने कर्तव्य कर्म का पालन करते हुए इस अमूल्य मानव देह को क्षुद्र कामों में न लगा कर ऐसा कार्य कर जाते हैं, जिससे वे कायःरूप से संसार में न रहने पर भी यशःकाय से विद्यमान रहते हैं । वे इस दुनियां में आते ही इसलिए हैं कि वे यहां आकर कुछ ऐसे काम कर जायें जिनसे संसार उनको हमेशा याद रखे । ऐसी विभूतियां जो कुछ करती हैं तथा जिन यादों को अपने पीछे छोड़ जाती हैं वे बातें आगामी पीढ़ियों के लिए एक सम्बल होती हैं । उन्हीं विभूतियों में से एक विभूति थी प्रो. लुडविक स्टर्नबाख ।

प्रो. स्टर्नबाख का जन्म सन् 1909 में एक संभ्रान्त परिवार में हुआ । इनके पिता अपने समय के एक सुप्रसिद्ध वकील थे । जिनका सम्बन्ध पोलैण्ड के यहूदी वंश से था । स्टर्नबाख ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा एक स्कूल से प्राप्त की । आप अच्छे परिश्रमी तथा निष्ठावान् व्युत्पन्न छात्र थे । उच्च शिक्षा के लिए इन्होंने विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया । अपनी पाठ्य पुस्तकों को पढ़ने के अतिरिक्त 1928 से आपकी संस्कृत पढ़ने की ओर भी अत्यधिक रुचि हुई । विश्वविद्यालय में विधिवत् पढ़ते हुए आपने पहले 1931 में 'जरिसप्रू डैस' में एम.ए. परीक्षा उत्तीर्ण की । संस्कृत से अत्यधिक लगाव होने के कारण 1934 में इन्होंने संस्कृत तथा इण्डोलोजी में भी एम.ए. परीक्षा उत्तीर्ण की । 1936 में डाक्टरेट और अन्य विषयों का अध्ययन पूर्ण कर लिया । इसके तुरन्त बाद आपने नियमित रूप से वकालत भी प्रारम्भ कर दी । इतने मात्र से आपको सन्तोष नहीं हुआ; क्योंकि लगता है कि, उनको जिस कार्य को सम्पन्न करने के लिए ईश्वर ने यहां भेजा था उस ओर इनकी प्रवृत्ति नहीं हुई थी । अतः इनका वकालत में उतना मन नहीं लगता था, जितना विषयों का गम्भीर अध्ययन करने में । फलतः आपने अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, इटैलियन तथा स्पैनिश आदि कई भाषाओं को पढ़ा और उनपर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया ।

1939 में पश्चिमी पोलैण्ड का वह भूभाग जिसमें ये वकालत करते थे जर्मनी के प्रभाव में आ गया, इसलिए आप पूर्वी पोलैण्ड में चले गए तथा वहां 'जानकासीयर' नाम के विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय संस्कृति विभाग में लैक्चरर पद पर नियुक्त किए गए । थोड़े ही दिनों में अपनी प्रतिभा के बल पर वे रीडर नियुक्त कर दिए गए । इसी बीच पूर्वी पोलैण्ड रूस के अधिकार क्षेत्र में आ गया, वैधानिक आपत्ति के कारण इनकी केवल नियुक्ति ही निरस्त नहीं की गई अपितु आपको अपना देश भी छोड़ना पड़ा । इनको इस बात का जरा भी दुःख नहीं हुआ कि उन्होंने संस्कृत में पढ़ा हुआ था कि – "स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ।" वे अपने माता पिता तथा अपनी अनुसन्धान-सामग्री को लेकर पोलैण्ड छोड़ कर चल पड़े । वे वहां से सर्वप्रथम टर्की तदनन्तर ईरान और अफगानिस्तान होते हुए कराची पहुंचे । उस समय कराची भारत का ही भाग था । कराची से बम्बई आ गए । आप विद्वान् तो थे ही, आपकी अपनी विद्वत्ता के आधार पर मिलिट्री में 'सिविलियन सैंसर' के पद पर नियुक्त हुई । 1941 से 1945 तक इस पद पर बड़ी ईमानदारी तथा निष्ठा के साथ कार्य किया । शिक्षा के प्रति रुचि होने के कारण नौकरी के साथ अध्ययन भी चलता रहा । अपने कार्य की समाप्ति के बाद या अवकाश के क्षणों में बम्बई विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग में जाकर आप निरन्तर अनुसन्धान का कार्य करते रहते थे । इनके प्रतिदिन के अध्ययन को देखकर तथा इनके वैदुष्य तथा भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत भाषा के स्नेह को देखकर भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट के वेद के पण्डित स्वनाम धन्य प्रो. दांडेकर इनकी प्रतिभा तथा लगन से अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्होंने

भारतीय विद्या भवन के कुलपति डा. कन्हैया लाल माणिक्य लाल मुंशी से उनका परिचय कराया । डा. के. एम. मुंशी स्वयं तो विद्वान् थे ही वे विद्वानों की परख तथ आदर करने वाले महापुरुषों में से एक थे। डा. स्टर्नबाख् की विद्वत्ता को वे नजर अन्दाज न कर सके और उन्होंने डाक्टर साहब को भारतीय विद्या भवन में आदरी प्रोफ़ेसर के रूप में नियुक्त कर दिया । धीरे धीरे आपका विश्वविद्यालय के विद्वानों से भी गहरा सम्पर्क हो गया । वे यद्यपि भारत में 6 साल तक की छोटी सी अवधि में रहे, पर इसी बीच आपने पंजाब, आंध्र, यू.पी., अन्नामलाई, मैसूर, कलकत्ता, उत्कल आदि विश्वविद्यालयों तथा ख्याति प्राप्त अनुसन्धान केन्द्रों, प्राच्य विद्या केन्द्रों में जाकर वहां के विद्वानों से मेलजोल किया । उन स्थानों पर व्याख्यान दिए तथा उन उन केन्द्रों में हो रहे अनुसन्धान के कार्यों से प्रभावित होकर उस क्षेत्र के प्रति अपनी गहरी पैठ बनाई ।

इसी बीच विश्व युद्ध के एक यू.एन.ओ. का एक महत्त्वपूर्ण तथा महान् संगठन तैयार हुआ । जिसका कार्य था विश्व को भविष्य में होने वाली युद्ध की विभीषिका से बचाना । पिछड़े राष्ट्रों को विकास की ओर उन्मुख करना तथा विश्व में स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए मार्ग प्रशस्त कर तदनुसन्धान कार्य कराना ।

डा. स्टर्नबाख् की अब तक प्रसिद्ध विद्वानों में गणना होने लगी थी। आपने अपनी विद्वत्ता, परिश्रम तथा कार्यशैली के आधार पर अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली थी । बहुमुखी प्रतिभा के धनी होने के कारण तथा कानून, समाजशास्त्र एवं भारतीय संस्कृति के प्रति अच्छी जानकारी होने से 1947 में आपकी नियुक्ति यू.एन.ओ. के ट्रस्टीशिप तथा पराधीन क्षेत्रों के विभाग में कर दी गई । उस विभाग में आपने अपनी ख्याति, निष्ठा तथा कर्मठता के अनुरूप 22 वर्ष तक निरन्तर अपने उत्तरदायित्व को निभाते हुए बड़ी शालीनता, सच्चरित्रता एवं विद्वत्ता के साथ कार्य किया । जब आप सेवामुक्त हुए उस समय आप डिप्टी डायरेक्टर आफ रिसर्च जैसे ऊंचे पद पर कार्य कर रहे थे । उस समय यह पद सर्वोपरि माना जाता था तथा इने गिने व्यक्ति ही ऐसे पद पर पहुंच पाते थे ।

प्रो.स्टर्नबाख् का जीवन, अद्भुत लगन, निष्ठा तथा परिश्रममय रहा है । जिस दिशा को उन्होंने बचपन से पकड़ा उसी पर सतत गतिशील रहे । यद्यपि विघ्न आये फिर भी विघ्नों की परवाह न करते हुए वे अपने स्वाध्याय में प्रयत्नशील रहे तथा अपने जीवन को भारतीय विद्या और संस्कृति के प्रति पूर्वरूप से समर्पित कर दिया । इसी समर्पित भावना के कारण आप की पुनः फ्रांस में पैरिस के विश्वविद्यालय और 'कालेज डी फ्रांस' में हिन्दू धर्मशास्त्र तथा इण्डोलौजी के प्रोफ़ेसर के रूप में नियुक्ति हो गई । इस बीच कालेज से सम्बन्धित कार्य करते हुए आपने यू.एन.ओ. के सेवाकाल में तथा अन्य समय में जो जो अनुसन्धान के कार्य किये उनको यहां भी आगे बढ़ाते रहे ।

डा. स्टर्नबाख् एक चलती फिरती संस्था तथा लाइब्रेरी थे । उन्होंने अपने जीवन में लगभग तीस ऐसे महान् ग्रन्थ लिखे जो पचास खण्डों में प्रकाशित हैं । एक खण्ड में सैंकड़ों पृष्ठ हैं । इसके अतिरिक्त लगभग डेढ़ सौ विद्वत्तापूर्ण शोध प्रबन्ध हैं । इनके अनेकों विवेचनात्मक लेख भी हैं, जिसमें से कुछ छपे हुए तथा कुछ अपूर्ण हैं । डा. स्टर्नबाख् की हस्तलिखित सामग्री को देखकर आश्चर्य होता है कि इस व्यक्ति ने कब और कैसे इन लेखों, शोध प्रबन्धों को लिखा होगा ।

डा. स्टर्नबाख् ने चाणक्यनीति तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र से सम्बन्धित अनेकों ग्रन्थों का सम्पादन किया । चाणक्यनीति के प्रकाशित तथा अप्रकाशित सभी संस्करणों को एकत्रित कर उसका सम्पादन कर भारत या विदेशों में जिस किसी लाइब्रेरी में डा. स्टर्नबाख् को चाणक्यनीति सम्बन्धी कोई सामग्री या उसका हस्तलिखित ग्रन्थ मिला, जहां तक सम्भव था स्वयं जाकर उनके पाठों को उतारा या उनका अध्ययन किया । जहां नहीं जा सके वहां से फोटोस्टेट इत्यादि द्वारा सामग्री मंगाकर उसका अध्ययन किया पर ऐसा कोई पुस्तकालय नहीं होगा जो डा. स्टर्नबाख् की पकड़ से बाहर रहा हो । विश्व के सभी पुस्तकालयों, अनुसन्धान

केन्द्रों से प्रकाशित तथा अप्रकाशित सामग्री को एकत्रित कर उन्होंने जिस चाणक्यनीति का सम्पादन किया वह नीतिशास्त्र को उनकी एक महान् देन है । संस्कृत जगत् डा. स्टर्नबाख् की इस सेवा का यावत् चन्द्रदिवाकरौ ऋणी रहेगा ।

डा. स्टर्नबाख् ने जिन काव्यों और साहित्यकारों के विषय में लिखा उनके विषय में तो लिखा ही है इसके अतिरिक्त इन्होंने लगभग 200 काव्य-लेखकों के विषय में जो खोज की और उनके विषय में जो लिखा, वह भी उनका एक अद्भुत कार्य है। उन्होंने ऐसे काव्यों के विषय में भी खोज की जिनकी रचनाएं तो प्राप्त नहीं पर उनके नाम से सुभाषितसंग्रहों में पद्य अंकित हैं या जिनके नाम सुभाषितसंग्रहों में ही पाये जाते हैं अन्यत्र नहीं ।

डा. स्टर्नबाख् की संस्कृत वाङ्मय को जो सबसे बड़ी देन है वह है महासुभाषितसंग्रह। यह एक अद्भुत ग्रन्थ है । यद्यपि इनसे पहले अनेक सुभाषित ग्रन्थ सम्पादित किए गए, अनेकों सुभाषितों को संग्रह रूप में छापा गया पर यह एक ऐसा ग्रन्थ है जो उन सभी से पृथक् है। इसके पूर्ण रूप से प्रकाशित हो जाने पर शायद ही ऐसा अन्य कोई ग्रन्थ प्रकाशित हो सकेगा जो इस जैसा हो। इस ग्रन्थ में तीन प्रकार के सुभाषितों को संग्रहीत किया गया है । प्रथम इसमें वे पद्य हैं जिनका स्रोत सीधे ही काव्य नाटक आदि हैं । उन्होंने सभी सम्पूर्ण लौकिक संस्कृत के ग्रन्थों का मन्थन करके वहां से अद्भुत सुभाषितों को एकत्रित किया। जिस कवि के काव्यों के जितने संस्करण उपलब्ध हुए उन्होंने उन सभी का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन कर, पाठभेद सहित सभी का संकेत टिप्पणियों में किया। दूसरे सुभाषितों में जिन पद्यों को कहीं से लिया गया, जो उनको अच्छे लगे उन्होंने लिखा । तीसरे प्रकार के ऐसे पद्य हैं, जो केवल मात्र सुभाषितों में ही मिलते हैं, वे जिन ग्रन्थों से या जिन कवियों के नाम से उल्लिखित हुए हैं उनका कोई अता-पता नहीं है । आपने इस प्रकार संस्कृत के विशाल साहित्य से सुभाषितों को एकत्रित कर 'महासुभाषितसंग्रह' नामक अद्वितीय ग्रन्थ का संकलन किया। उस ग्रन्थ की लगभग 20 भागों में प्रकाशित होने की योजना है। इसके 7 भाग विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान से सम्पादित तथा अंग्रेजी अनुवाद के सहित प्रकाशित हो चुके हैं । आठवां भाग छप रहा है। अन्य भागों के सम्पादन का कार्य चल रहा है ।

डा. स्टर्नबाख् पहले अनेक ग्रन्थों का सम्पादन कर छपवा चुके थे, अनेकों शोधपत्र तथा लगभग 200 कवियों के विषय में इधर-उधर से लिखकर छपवा चुके थे पर महासुभाषितसंग्रह ग्रन्थ साधारण ग्रन्थ न था । वह एक प्रकार से उनके हृदय का टुकड़ा था। उस ग्रन्थ को उन्होंने अपना पुत्र ही समझा था । यह ग्रन्थ ही उनका सब कुछ था, उसी की रचना के लिए वह जीवन भर अकेले रहे । गृहस्थ नहीं अपनाया । आजीविका कर उसी के लिए धन एकत्र किया, अब वह चाहते थे कि मेरे जीवित रहते-रहते यह छप जाये। उनकी दृष्टि बड़ी संस्थाओं की ओर दौड़ी। डा. स्टर्नबाख् बनारस गए, पूना गए, बड़ौदा गए, इन सभी संस्थाओं के सामने उन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रकाशन की बात कही पर किसी ने भी स्वीकृति न दी ।

संयोग की बात है, आचार्य विश्वबन्धु जी से वह परिचित थे, उनको वह पहली बार 1957 में मिल चुके थे । संस्थान से प्रकाशित सिद्धभारती में उनका शोधपत्र छप चुका था। उन के मन में आया कि क्यों न आचार्य विश्वबन्धु जी के सामने मैं अपना मन्तव्य रखूं। यह सोचते हुए उन्होंने आचार्य विश्वबन्धु जी के सामने अपना विचार रखा तथा अपना कार्य दिखाया। आचार्य विश्वबन्धु जी ने उनकी भावना को समझा, परिश्रम की परख की तथा संस्कृत के प्रति दृढ़ आस्था और विश्वास को देखा, तथा देखा उनके त्याग को, जिसने आचार्य जी के समान ही अपने इस ग्रन्थ को जीवन का सब कुछ माना था । उन्होंने आचार्य जी के सामने कहा — "यह ग्रन्थ ही मेरी एक मात्र सन्तान है, मैंने सम्पूर्ण जीवन इसके परिवर्धन में लगाया है"। आचार्य जी ने मन में विचार किया कि जैसे मैंने केवल मात्र संस्थान को सब कुछ समझा, इसी प्रकार इस

विद्वान् ने भी इस महान् ग्रन्थ के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन न्यौछावर किया है, अतः इसकी आत्मा को दुःखी नहीं करना चाहिए। आचार्य जी ने उनसे कहा – ठीक है, मैंने अपना जीवन संस्थान के लिए अर्पित किया था, तुमने इस महान् ग्रन्थ के निर्माण के लिए। मैंने इस संस्थान को ही अपनी सन्तान माना तुमने इस महान् ग्रन्थ को। इसलिए मैं इसको छापूंगा चाहे इस पर कितना ही खर्चा आए। यह बात सन् 1972 की है। डा. स्टर्नबाख् को अपार आनन्द हुआ। उन्होंने अपने जीवन तथा कार्य को सफल समझा।

आचार्य जी के द्वारा स्वीकृति दिए जाने पर, 1973 में आचार्य जी स्वर्ग सिधार गए, पर उनके कथनानुसार संस्थान से महासुभाषितसंग्रह का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया। उस महान् ग्रन्थ के चार भाग डा. स्टर्नबाख् के जीवन काल में छप गए थे। अभी 5वां खण्ड तैयार करके प्रैस में दिया ही था कि अचानक हृदय गति रुकने से 25 मार्च, 1981 को पैरिस में उनकी मृत्यु हो गई। मृत्यु से पूर्व ही डा. स्टर्नबाख् को यह निश्चय हो गया था कि मेरा यह पुत्रवत् पालित महासुभाषित ग्रन्थ अब एक ऐसे संस्थान से प्रकाशित हो रहा है जो केवल भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी अपनी मान्यता रखता है और डा. स्टर्नबाख् ने जिस प्रकार कोई मृत्यु से पूर्व अपनी वसीयत पुत्र के नाम कर जाता है उसी प्रकार अपने जीवन की कमाई चल और अचल सम्पत्ति की वसीयत अपने पुत्रस्वरूप महासुभाषितसंग्रह के सम्पादनार्थ तथा उसको पूर्ण करने के लिए संस्थान के नाम कर दी। आचार्य विश्वबन्धु जी ने डा. स्टर्नबाख् का यह कार्य बिना किसी लोभ लालच के केवल मात्र उसकी भावना को देखकर अपने हाथ में संस्थान से प्रकाशित करने के लिए लिया था। किसी को भी यह ज्ञान नहीं था कि डा. स्टर्नबाख् के मन में ऐसा कोई भाव है या था। डा. स्टर्नबाख् ने महासुभाषितसंग्रह के लिए अपनी सम्पत्ति की वसीयत की थी अतः उनकी इच्छा के अनुसार इस संस्थान की पूर्ण देखरेख और नियन्त्रण में संस्थान में डा. लुड्विक स्टर्नबाख् फाउण्डेशन की स्थापना कर दी गई।

इस प्रकार स्टर्नबाख् ने जिस महासुभाषितसंग्रह का संकलन किया था, डा. विश्वबन्धु ने उसको छापने का बीड़ा उठाया। ऐसा क्यों न होता, वस्तुतः एक ही पथ पर चलने वाले दो शरीर थे, दोनों के शरीर भिन्न भिन्न थे, पर संस्कृत की सेवा करने का व्रत दोनों ने ही धारण किया था। यदि आचार्य विश्वबन्धु जी ने वैदिक वाङ्मय के वैदिक पदानुक्रम कोष का निर्माण कर वैदिक साहित्य को एक अभूतपूर्व ग्रन्थ प्रदान किया तो डा. स्टर्नबाख् ने भी महासुभाषितसंग्रह जैसे लौकिक साहित्य से सम्बन्धित सूक्तियों को संकलित महासुभाषित संग्रह नामक ग्रन्थ संस्कृत साहित्य को एक रत्न के रूप में प्रदान किया है। विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान उसका सम्पादन तथा अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशन कर संस्कृत साहित्य की महान् सेवा कर रहा है।

आचार्य जी ने जीवन भर आदरी संचालक के रूप में संस्थान की सेवा की, पैसे को कभी हाथ नहीं लगाया। डा. स्टर्नबाख् ने जीवन में जो कुछ भी अर्जित किया वह अपने महासुभाषितसंग्रह के प्रकाशक वी. वी.आर.आई. को समर्पित कर दिया। इस प्रकार दोनों ने समान रूप से संस्थान की सेवा की।

डा. स्टर्नबाख् के इस विशाल कार्य से स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि वे एक अद्भुत मानसिक प्रतिभा के धनी थे। सारस्वत साधना को ही उन्होंने अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य चुना हुआ था। यही कारण था कि उन्होंने आजीवन ब्रह्मचारी रहने का निश्चय किया और अपने इस ग्रन्थ को ही जीवन साथी मानकर उसकी सम्पन्नता को ही अपने गृहस्थ की सम्पन्नता मानकर पुत्रवत् उसका संरक्षण तथा संवर्धन किया। उनमें विलक्षण प्रतिभा विद्यमान थी। विज्ञान के छात्र होते हुए भी आपने संस्कृत जैसे साहित्य पर अपना ध्यान आकर्षित किया। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही आप अनेक भाषाओं पर अपना पूर्ण अधिकार प्राप्त कर चुके थे। आपने अपने महासुभाषितसंग्रह में ऐसे भी सुभाषित जोड़े हैं जो केवल भारत में ही नहीं अपितु

चीन, तिब्बत, कोरिया, श्रीलंका, बर्मा, जापान आदि देशों की लिपियों में लिखे हुए संस्कृत साहित्य से सम्बद्ध सुभाषित थे ।

इस प्रकार डा. लुड्विक स्टर्नबाख् जीवन भर संस्कृत की सेवा करते हुए 25 मार्च, 1981 को अपने पार्थिव शरीर को छोड़ कर परलोकगामी हो गए। आज पार्थिव शरीर से विद्यमान न होने पर भी डा. स्टर्नबाख् 'काव्यं यशसे' मम्मट के इस कथन के अनुसार वे यशःकाय से आज भी विद्यमान हैं। जब तक संस्कृत साहित्य का एक भी अक्षर संसार में विद्यमान रहेगा तब तक डा. स्टर्नबाख् का नाम अमर रहेगा ।